सांस्कृतिक कहानियाँ
भाग १
सुदर्शन सिंह चक्र

सांस्कृतिक कहानियाँ

(भाग १)

सुदर्शन सिंह 'चक्र'

प्राप्ति-स्थान—

प्रकाशन विभाग

श्रीकृष्ण - जन्मस्थान - सेवासंघ

मथुरा-२८१००१ (उ० प्र०)

प्रकाशक	श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ
प्रकाशन-तिथि	अक्षय तृतीया, वि०सं० २०३४ २१ अप्रैल, १९७७
प्रथम संस्करण	५००० प्रतियाँ
मुद्रक	राधा प्रेस, गान्धीनगर, दिल्ली-११००३१

SANSKRITIK KAHANIYAN — Part I
—Sudarshan Singh 'Chakra'

मूल्य—दो रुपया मात्र

अनुक्रमणिका

श्रीकृष्ण - सन्देश

[आध्यात्मिक मासिक-पत्र]

श्रीकृष्ण-सन्देशका वर्ष जनवरीसे प्रारम्भ होता है ।
श्रीकृष्ण-सन्देश प्रतिमास ८० पृष्ठ पाठ्य सामग्री देता है ।

आप श्रीसुदर्शन सिंह 'चक्र' की सशक्त लेखन-शैलीसे इस पुस्तकके द्वारा परिचित हो रहे हैं । श्रीकृष्ण-सन्देशमें श्री 'चक्र' द्वारा लिखित श्रीकृष्णचरित प्रति अङ्क ३२ पृष्ठ और उन्हीं द्वारा लिखित 'श्रीरामचरित' प्रति अङ्क ३२ पृष्ठ जा रहा है ।

वार्षिक शुल्क— १० रुपया ।
आजीवन शुल्क— १५१ रुपया ।

सम्भव हो तो आजीवन ग्राहक बनें ।

व्यवस्थापक—
श्रीकृष्ण-सन्देश
श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ
मथुरा-२८१००१

अध्यात्मकी ओर

[१]

यह एक द्वीप है। मैं पता-ठिकाना इतना नहीं जानता कि उसके आधारपर उसे आप मानचित्रमें पा सकें या पानीमें अथवा हवामें चलकर इसका पता लगाने निकल पड़ें। मुझे इतना ही पता है कि यह द्वीप है; क्योंकि इसके चारों ओर समुद्र हिलोरें मारता है। यह द्वीप इतना बड़ा है कि एक ओरसे दूसरी ओर किनारे तक जानेमें मुझे तीन दिन लग जाते हैं। जितना लंबा है, मुझे लगता है कि उतना चौड़ा भी है। वैसे मैंने कभी अपनी लाठीसे इसे नापा नहीं है। कुछ लोग इसे गोल कहते हैं। गोल हो या चौकोर, बहुत अच्छा है। इसलिए भी अच्छा है कि हमलोगोंका है—मेरा है।

ऊँचे-ऊँचे वृक्ष हैं नारियलके, केलेका वन है, लंबी-लंबी घासे हैं। इतना अच्छा द्वीप देखा है कहीं आपने? हमारे यहां और भी बहुत-से वृक्ष हैं और वे खूब घने हैं। सदा हरे-भरे रहते हैं। प्रायः वर्षा होती रहती है और जब बादल हटते हैं, धुले आकाशमें चमकती धूप निकलती है। क्या हुआ कि हमारे वनोंमें सांप बहुत हैं, कीड़े बहुत

हैं और दूसरे साधारण तथा भयङ्कर पशु भी बहुत हैं। जो अच्छी भूमि होती है, वहीं तो सभी रहना चाहते हैं। यह ठीक है कि हमारे यहाँ लोग साँप काटनेसे या बीमार होकर मरते हैं और कभी-कभी उन्हें चीते या तेंदुए भी खा लेते हैं; पर क्या ऐसा भी कोई देश आप जानते हैं, जहाँ लोग मरते न हों? क्या सब कहीं लोग इससे भी अधिक कष्टसे नहीं मरते?

यहाँ कई झीलें हैं, निर्मल झरने हैं, फूलोंसे भरे सरोवर हैं और दो नदियाँ भी हैं। मुझे अपने इस टापूपर गर्व है। मुझे पूरा विश्वास है कि इससे अच्छी और कोई भूमि कहीं नहीं है। नारियलके कच्चे फलोंका हम पानी पीते हैं, पकनेपर उसकी गिरी खाते हैं। नारियलका तेल तो हमारे घरकी मुख्य वस्तु है। केले हम पके तो काममें लेते ही हैं; कच्चा बहुत अधिक काममें लेते हैं। कच्चे केलेको सुखाकर आटा बना लेते हैं। केलेकी रोटी और केलेका ही शाक—होता है ऐसा कोई पदार्थ आपके यहाँ। गेहूंकी रोटी, उबला चावल और दाल तो अब कुछ वर्षोंसे हमारे यहाँ कुछ लोग सफेद मनुष्योंकी देखा-देखी खाने लगे हैं। अच्छे लोग इन बातोंको रोकते हैं। इन सफेद मनुष्योंकी नकल करना अच्छी बात नहीं। ये लोग तो ऊदबिलावकी भाँति मछलियाँ खाते हैं। ये उन्हें उबाल लेते हैं—इतनेसे हो क्या गया। पानीमें चञ्चलतासे घूमनेवाली कोमल उज्ज्वल सुन्दर मछली, क्या पेड़ोंपर फुदकनेवाली मनोहर चिड़िया या वनमें कूदने-दौड़नेवाले हिरन अथवा शशककी भाँति ही देखनेमें अच्छी लगने-

वाली और प्यार पाने योग्य नहीं हैं ? क्या मनुष्यको चाहिए कि उसे दुःख दे। मैंने तो यहाँ तक सुना है कि ये सफेद लोग अपनी धुएँवाली काली लाठीसे दूरसे ही चिड़ियोंको, मृगको और बेचारे शशकको भी मार देते हैं और उन्हें भी खा जाते हैं। ये मायावी लोग हैं। इनके पास जाना ही अच्छा नहीं है। इन लोगोंने ही हममें-से कुछ लोगोंको यह चावल गेहूँ और पता नहीं और क्या-क्या घास-पात खाना सिखा दिया है। नहीं तो, जबसे यह पृथ्वी बनी हमारे पूर्वज पवित्र नारियल और केलेका उत्तम आहार ही करते आये हैं।

आपने हमारे घर देखे हैं ? आज आप मेरे घर भोजन करें। मेरी माता आपको देखकर बहुत प्रसन्न होंगी। हमपर आपकी यह कृपा होगी ; क्योंकि मेरे बड़ भाई प्रतिदिन तबतक भोजन नहीं करते, जबतक घरमें एक नवीन अतिथिको भोजन न करा दिया जाय और आप जानते ही हैं कि यह बहुत कठिन नियम है। कोई बहुत ही कृपा करता है, तब किसीके घर वह अतिथि बनकर पहुँचता है। भगवान्‌ने वनोंमें इतने नारियल और केले लगा रक्खे हैं कि कोई किसीके घर भोजनकी आवश्यकता होनेपर जायगा, यह सोचा ही नहीं जा सकता। लेकिन आप मेरा घर देखकर प्रसन्न होंगे। हमने अभी इसी वर्ष नारियलके हरे पत्तोंसे उसे बनाया है। ऊँचे लट्ठोंपर हमने उसे इस प्रकार बनाया है कि जब भी अतिथि आयें, उन्हें कम-से-कम सीढ़ियाँ चढ़नी पड़ें . हमारे घरमें केवल दस सीढ़ियाँ चढ़कर आप पहुच जायँगे। यद्यपि चीते

तथा सर्पके चढ़नेका भय रहता है ; फिर भी अतिथिको कभी पुकारना न पड़े, इसलिए हम रात्रिमें भी सीढ़ीको लटकते रहने देते हैं। उसे ऊपर नहीं खींचते। आप जब मेरे घर पधारेंगे, देखेंगे कि मुन्नी आपको देखते ही प्रसन्नतासे किलकने लगेगी और हमारी गायतक हुम्मा-हुम्मा करके आपका स्वागत करेगी। वही बड़ी उत्तम गाय है। दोनों समय दूधसे हमारा वर्तन भर देती है और अतिथिका स्वागत करना भी उसने सीख लिया है। यह गाय मैं दूसरे गाँवसे लाया। वहाँके एक सज्जन इसे एक सफेद आदमीसे ले आये थे। सफेद आदमियोंने हमें यही एक उत्तम काम सिखाया। अब आप कृपा करके मेरे साथ मेरे घर पधारें।

× × ×

[२]

मैं उन सज्जनका अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। आजसे दस वर्ष पूर्व मेरी प्रार्थनापर वे मेरे घरपर अतिथि हुए थे। उस समय मेरे घर था, यह कहना ही ठीक नहीं है। सहस्रों वर्षसे हमारे पूर्वज जैसे रहते आये थे, हम भी वैसे ही थे– अपढ़, असंस्कृत और असभ्य ! कुछ ऊँचे लट्ठे भूमिमें गाड़कर पृथ्वीसे दस-बारह फुट ऊँचाईपर लकड़ियों तथा पत्तोंसे एक जो गंदा घोंसला बनाया जाता था, आदि-युगसे हम उसीको घर कहते आते थे। मेरे लिए तो वह भी घर नहीं था। हमारा वह घोंसला, झोपड़ा या घर आप उसे जो चाहें कहें वह था मेरे बड़े भाईका।

मुझे तो उनकी आज्ञामें ही सदा रहना पड़ता था। मैं एक प्रकारसे दास था उनका। उन सज्जनने उसी दिन मुझसे मित्रता कर ली। उनके कारण पाश्चात्त्य जातिके लोगोंसे मेरा परिचय हुआ। जिनको सफेद आदमी कहकर हम घृणा करते थे, उन्होंने ही हमको सभ्य बनाया, शिक्षित बनाया। हम उनके सम्पर्कमें आकर-ही मनुष्य बन सके।

हमारे पक्के मकान सहज ही नहीं बन गये हैं। वनोंको काटनेमें, वन-पशुओंका विरोध तथा प्राकृतिक कठिनाई इतनी अधिक नहीं थी, जितनी कठिनाई अपने स्वजनोंके विरोधसे किसी प्रकार बचनेमें उठानी पड़ी। आप देखते ही हैं कि मेरे बड़े भाईने मेरा साथ नहीं दिया है। वे अपने उस गंदे घोंसलेको छोड़ना नहीं चाहते थे। मुझे भी वे उसीमें बन्द रखना चाहते थे। उनसे बहुत विवाद हुआ। किसी प्रकार लड़-झगड़कर मैं यहाँ चला आया; क्योंकि मैंने कुछ पढ़ी लड़कीसे अपनी इच्छासे विवाह कर लिया है, बड़े भाईने मुझसे पूरा सम्बन्ध तोड़ लिया है। यह अच्छा ही हुआ; क्योंकि नवीन समाजमें मुझे इसलिए संकुचित-लज्जित नहीं होना पड़ता कि मेरा सम्बन्ध एक असभ्य, असंस्कृत परिवारसे है।

हमारा दीप छोटा है, इसलिए यूरोपसे आये उदार लोगोंको अपना प्रभाव यहाँ फैलानेमें बहुत समय नहीं लगा। यद्यपि वृद्धलोग विरोध करते रहे और वे अब भी विरोध ही करते हैं; किंतु युवकोंने इस सभ्यताके

प्रकाशका स्वागत किया। अब आपको हमारे द्वीपमें पर्याप्त पक्के मकान मिलेंगे जो सुरक्षित ढङ्गसे बनाये गये हैं। जहाँ-तहाँ पादरीलोग शिक्षा देने लगे हैं। मैंने स्वयं इतना अभ्यास कर लिया है कि पुस्तकें पढ़ लेता हूँ। हमें पादरी बिना मूल्यके ही पुस्तकें देते हैं, जिन्हें हम पढ़कर लौटा देते हैं। द्वीपमें दो-तीन चिकित्सालय भी चलने लगे हैं।

आप मेरे घर चलकर देखेंगे कि हम यूरोपसे बने वस्त्रोंका पर्याप्त प्रयोग करने लगे हैं। यद्यपि केलेके पत्ते लपेटनेवाले लोग अभी बहुत हैं; किंतु असभ्यताका यह चिह्न शीघ्र समाप्त हो जायगा। हमने वनोंको बहुत कुछ काटकर घटा दिया है। धानकी खेती करने लगे हैं। वन-पशु तो आखेटके कारण स्वतः घट गये। हमारा द्वीप धीरे-धीरे उन्नत होता जा रहा है। मछलियोंका व्यवसाय हमने अभी ही प्रारम्भ किया है और यह आपकी दृष्टिसे उत्तम व्यवसाय सिद्ध हो रहा है। मैंने अपने घरके आस-पास फूल लगा रखे हैं और मुर्गियाँ, बत्तकें तथा शशक भी पाल रखे हैं। ये स्वादिष्ट भोजनके साधन तो हैं ही, अच्छी आमदनी भी इनसे हो जाती है।

हमारे गाँवमें सप्ताहमें दो बार पादरी आता है। मेरे घरपर ही वह ठहरता है। उसके उपदेश एवं शिक्षाके प्रभावसे हम अपने पुराने अन्धविश्वासोंको छोड़ते जा रहे हैं। मैंने ही अपनी पसंदकी लड़कीसे विवाह किया, जैसा कि पहले कभी सम्भव नहीं था। अब हमने पेड़ों

तथा पत्थरोंको पूजना भी छोड़ दिया है। बीमारी होनेपर पुरोहितकी उलटी-सीधी क्रियाओंको माननेवाले अब घटते जा रहे हैं। अब हम चिकित्सालयोंमें जाकर औषधि लेते हैं।

यह ठीक है कि हम अभी यूरोपियन लोगोंसे बहुत पिछड़े हैं, हमारे घरोंमें और मनोंमें भी अभी बहुत-से अन्धविश्वास बचे हैं, अभी बहुत कुछ सीखना और करना है हमें तथा बहुत उलट-फेर करना होगा इसके लिए अपने घरोंमें एवं समाजमें ; किंतु हम इसे करेंगे। हमारा निश्चय दृढ़ है। हम पूर्ण सभ्य एवं सुसंस्कृत बनेंगे। हमारा जातीय जीवन संसारमें किसीसे पिछड़ा नहीं रहेगा। जीवन-निर्वाहके स्तरको हम क्रमशः ऊँचा उठाते जा रहे हैं और मेरे घर चलनेपर आप स्वयं समझ लेंगे कि मेरी बातोंमें कितना सत्य है। आप अवश्य कभी मेरे यहाँ पधारें।

× × ×

[३]

और दस वर्ष पश्चात्—

मैं उस कथाको दुहराना नहीं चाहता जो विदेशियोंके कारण हमारे इस छोटे-से सुन्दर टापूपर घटी है। अत्याचार, शोषण और उत्पीडनकी यह कहानी उससे कुछ भी भिन्न नहीं है, जो आपके यहाँ घटित हुई। यदि आपका देश कभी इन पाश्चात्त्य लोगोंकी अधीनतामें

रहा है। यदि सौभाग्यसे ऐसा नहीं है, तो किसी भी पुस्तकालयमें किसी पराधीन देशका इतिहास देख लेना आपके लिए पर्याप्त होगा। हमारी पराधीनता एवं हमारे उत्पीडनका क्रम भी वही है, जो सदा सर्वत्र रहता आया है। अब इस सब इतिहासको दुहरानेसे लाभ क्या? मैं तो केवल अपने लोगोंकी और अपनी बात सोचता हूँ शिकारी तो जाल फैलाता ही है और दाने भी डालता है उसमें; किंतु खेद तो पक्षीपर है जो नेत्र रहते भी उस जालपर जा बैठता है।

हमने शिक्षा प्राप्त की, स्वच्छता सीखी, सभ्यता सीखी और बहुत कुछ सीखा! हमें पक्के मकान मिले, कल-कारखाने मिले, चमकते-दमकते वस्त्र मिले, बिजली मिली, नवीनतम चिकित्सा एवं मनोरञ्जनके साधन मिले, रेल, मोटर, वायुयान तथा सभी वैज्ञानिक उपकरण मिले, लंबी-लंबी उपाधियाँ मिलीं, तितली-सी पत्नियाँ मिलीं और इसी प्रकार बहुत-सी बातें मिलीं। लेकिन यह बात अधूरी रह जायगी, यदि मैं यह न कहूँ कि इसके साथ ही हमें चोरी मिली, झूठ मिला, क्रोध मिला, दम्भ मिला, छल मिला, आलस्य मिला, अनाचार मिला, अविश्वास मिला, अश्रद्धा मिली, कलह मिला, आडम्बर मिला, विलासिता मिली, फिजूलखर्ची मिली और ऐसे ही सभ्यताका वह सब प्रसाद मिला जो सभ्य देशोंको प्राप्त होता है।

हमने अपनी झोंपड़ियाँ छोड़ दीं, असभ्यता छोड़ दी, केलेके छिलके लपेटने छोड़ दिये और भोलापन छोड़ दिया। इसके साथ ही हमें अपनी शान्ति, अपना सुख,

अपना आचार भी छोड़ देना पड़ा। हमें दया, क्षमा, सरलता, सादगी सब छोड़ देनी पड़ी। हमारे समाजमें जो आज नेता हैं, जो विद्वान् हैं, वे अब भी इस टापूकी इस उन्नतिपर गर्व करते हैं, वे बार-बार कहते हैं कि उन्हींके सत्प्रयत्नसे यहाँके लोगोंका जीवन-स्तर इतना ऊँचा हुआ है। मैं उनकी बातको अस्वीकार नहीं करता; किन्तु मुझे लगता है कि जीवन-स्तर ऊँचा होनेके साथ-साथ वास्तविक जीवन उसी क्रमसे नीचा होता गया है और मानवता तो हमसे बहुत ही दूर जा पड़ी है।

हमारा टापू अब वैसा हरा-भरा कहाँ है? कहाँ हैं वे केले और नारियलके प्राकृतिक वन? केले और नारियल तो हैं; पर अब वे शोभाके लिए लगाये गये हैं। अब वे लट्ठोंपर बनी पवित्र कुटीरें दिखायी ही नहीं पड़तीं! कहाँ हैं अब वैसे सरल निष्कपट स्वस्थ लोग? अब तो नियमितरूपसे घरोंमें सातवें दिन डाक्टर आता है। उसे रोज न आना पड़े, यह गृहपतिके लिए सौभाग्यकी बात है। अब दूसरोंसे व्यवहार करते समय यह मान लिया जाता है कि वह यदि मूर्ख नहीं है तो हमें ठगेगा और हमें उसको ठगना है। यह तो सामाजिक कर्तव्य है। अतिथि-सत्कारकी तो चर्चा ही करना व्यर्थ है।

हमारे नेता कहते हैं कि हमारे सौभाग्यसे ही हमारे टापूमें इतने खनिज प्राप्त हुए कि यदि ये खनिज न प्राप्त होते—परंतु मैं किस मुँहसे दूसरी बात कहूँ। मैंने स्वयं

ठेका ले रक्खा है दो खदानोंका और उसका पूरा लाभ उठाता हूँ। मेरे पास उस पीली चमकीली वस्तुका अभाव नहीं है, जिसे संसार 'सोना' कहता है। आज कोई उसके बिना कैसे प्रतिष्ठा पा सकता है। मेरे पास तो कुछ बहुमूल्य चमकीले पत्थर भी हैं। इन पत्थरों-रत्नोंका हमारे समाजने पहले नाम भी नहीं सुना था। इस सोनेको भी हममें-से गिने-चुने लोगोंने ही दूरसे देखा था। इनके बिना मजेसे हमारा काम चल जाता था। आज भी हम इन्हें खाते नहीं। इन्हें पहननेसे सर्दी दूर नहीं होती। लेकिन आज यदि ये हमारी तिजोरीमें बंद न हों.........।

आप पूछते हैं कि मैं इतना क्षुब्ध क्यों हूँ। मैं स्वयं ही इसका उत्तर नहीं सोच पाता हूँ। हमने जो किया है, उसका फल जब सामने है, तब हमें क्षोभ क्यों होना चाहिए! मेरा पुत्र मेरी बात नहीं मानता। मैं अपने बड़े भाईसे इसीलिए तो पृथक् हुआ कि उनकी दासता मुझे अखर रही थी। उनका स्नेह मुझे काटने दौड़ता था। मेरा पुत्र मेरी दासता स्वीकार नहीं करता तो उसका दोष? वह सभ्य है, शिक्षित है; फिर क्यों किसीकी दासता स्वीकार करे? वह अपनी पसंदकी एक लड़कीसे विवाह करने जा रहा है। मैंने रोकना चाहा था, उसने स्पष्ट कह दिया—'मेरे व्यक्तिगत जीवनमें हाथ देनेका आपको कोई अधिकार नहीं।' मैं जानता हूँ कि उस लड़कीका आचरण अच्छा नहीं है। वह अच्छे कुलकी भी नहीं है। जो भी हो, उसके साथ जब मुझे नहीं, मेरे

लड़केको पूरा जीवन व्यतीत करना है, तो मैं क्यों बीचमें पड़ता हूँ? मुझे क्या अधिकार ?

मेरी लड़कीके आचरणके विषयमें कुछ लोगोंने मुझसे उलटी-सीधी बातें कही हैं। मैंने आज अपनी पुत्रीसे बड़े प्रेमसे पूछा। वह क्रोधसे लाल हो गयी। उसने कहा— 'आचारकी ये रूढ़ियाँ हम स्त्रियोंको गुलाम बनानेके लिए गढ़ी गयी हैं। पुरुषोंकी दासता मैं स्वीकार नहीं कर सकती। किसीको कोई अधिकार नहीं कि मेरे आने-जाने, मिलने-जुलनेपर प्रतिबन्ध लगावे। मैं अपने सम्बन्धमें स्वयं विचार कर सकती हूँ।' मैं चुप रह गया। जैसे पुरुष स्वतन्त्र है, वैसे ही स्त्री भी स्वतन्त्र है। अब इस स्वतन्त्रताके युगमें कोई किसीसे क्यों कुछ कहे-सुने ?

'मेरी पत्नी !' अब आप यह न पूछते तो अच्छा करते। मेरी वह पत्नी जिसके साथ मैंने बड़े भाईकी अवज्ञा करके विवाह किया था, वह इस समय सातवाँ विवाह कर चुकी है। मेरे भाग्य इस विषयमें अच्छे हैं; क्योंकि मेरी दूसरी पत्नी ही मेरे घरमें अबतक है। वैसे मेरी वर्तमान पत्नीके लिए यह तीसरा पति-गृह है। मेरी ये गृहदेवी संयोगवश ही मुझे प्राप्त हुई और अबतक मैं सीख चुका था कि अपनी रुचि एवं स्वतन्त्रताका गर्व कितना कष्टदायी है। अब मेरे घरमें मुझे छोड़कर शेष सब स्वतन्त्र हैं। केवल मैं ही सबकी इच्छाका परतन्त्र हूँ। सबके लिए धन कमानेका यन्त्र बनकर रह गया है मेरा जीवन और उसमें भी परिश्रम-ही-परिश्रम है, परिश्रमके पश्चात् मिलनेवाला विश्राम नहीं ; क्योंकि जब विश्रामके

स्थानपर जो कि 'घर' कहा जाता है, जाता हूँ, तब वहाँ इस प्रकारका स्वागत मिलता है कि उसे पाकर मेरे घरका कुत्ता भी वहाँ दो क्षण बैठना न चाहता।

नहीं—आप भ्रममें न पड़ें। मेरा घर सुशिक्षित एवं सभ्य है। मेरे घरका कोई व्यक्ति समाजकी सभ्यताका अनादर कभी नहीं करता। मेरा पुत्र, मेरी पुत्री और मेरी स्त्री कभी मेरा अपमान नहीं करेंगी यदि कोई तीसरा व्यक्ति वहाँ हो। मेरी दोनों संतानें प्रातः-सायंका नियमित अभिवादन करना नहीं भूलते। मेरी पत्नी वे सब शिष्टाचार पूरे चुकाती है, जो एक सभ्य स्त्रीको चुकाने चाहिए। हम यन्त्रके युगके प्राणी हैं, यन्त्रके आराधक हैं, तब हमें क्यों इन यन्त्र-से आचारोंपर संतुष्ट नहीं रहना चाहिए। हृदय—लेकिन क्या स्वयं हमने अपने पास हृदयको जीवित रहने दिया है? जब अपने हाथों हमने उसका गला घोंट दिया, तब उसके न मिलनेपर असंतोष क्यों?

दूसरोंकी बात छोड़ दीजिये—यह मेरा शरीर और मन है। मैं श्रम करता हूँ या कपट करता हूँ; पर मैंने सोनेकी ढेरी लगा दी है। इतनेपर भी मुझे सुख क्या मिला? डाक्टर कहता है कि मुझे मधुमेह है। मेरा पेट खराब है। मुझे सब मीठी वस्तुएँ छोड़ देनी पड़ी हैं। रूखे, उबाले शाकोंपर मुझे रहना पड़ता है। कोई आमोद-प्रमोद मेरे उपयोगका नहीं। मैं दौड़ नहीं सकता, चल नहीं सकता कुछ दूर और दो घंटे बैठा भी नहीं रह सकता। मनकी दशा और दयनीय है। क्रोध, ग्लानि-

क्षोभ, विषाद-दुःखके अतिरिक्त वहाँ कुछ भी नहीं है। आशान्ति, क्लेश, शोक—जीवन जैसे इन तीन शब्दोंसे ही बना है।

आप कहते हैं मेरे घर चलनेके लिए। मेरा बगीचा द्वीपके सुन्दरतम उपवनोंमें है। मेरा भवन बहुत बड़ा है और कलापूर्ण सामग्रियोंसे सुसज्जित है। बड़ी तड़क-भड़कसे आप-जैसे अतिथिका राजोचित सम्मानपूर्वक सत्कार किया जा सकता है ; आप मेरा घर देखना चाहते हैं ; इस द्वीपके एक वास्तविक निवासीका घर देखनेकी इच्छा है आपकी। क्या मुँह लेकर मैं आपसे अपने घर पधारनेको कहूँ ?

× × ×

[४]

जब कि कुछ वर्ष और बीत चुके—

मेरा कोई घर नहीं है। मेरा घर था, यह कहना भी सत्य नहीं है। मैंने परिश्रम करके कोइ घर नहीं बनाया था। मेरा घर या भवन तथा मेरी सम्पत्ति, जिसके विषयमें आप पूछ सकते हैं, वह तो समाजकी थी। मैंने छल, झूठ और कपटके व्यवहारके द्वारा समाजसे उसे ठग लिया था। इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता कि आज समाजमें इसे नीतिपटुता या दूसरा कोई उत्तम नाम दिया जाता है। इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता कि समाजके प्रतिष्ठत व्यक्ति ऐसा ही करते हैं। समाज उसपर मेरा

स्वत्व मान चुका था, यह तो ऐसी ही बात है, जैसे हम चोरके पास जो चोरीकी वस्तु है, उसे चोरीकी न जानने-के कारण चोरके स्वत्वकी वस्तु मानते हैं। मैं वह सब समाजको दे आया। स्त्री, पुत्र और पुत्रीके प्रति मेरा कर्तव्य पूरा हो चुका था; क्योंकि स्त्रीको अपने लड़केके साथ रहना स्वीकार था और संतानोंकी शिक्षा पूरी हो चुकी थी। वे दोनों स्वतन्त्र रहना चाहते थे। जीवनके पूरे क्षेत्रमें—विचार-आचार एवं उपार्जन सबमें मैंने उन्हें स्वतन्त्र कर दिया है।

मेरे बड़े भाई अत्यन्त उदार हैं। उन्होंने पूछातक नहीं मेरी पिछली भूलोंके विषयमें। अब भी वे द्वीपनिवासियोंका पुराना जीवन व्यतीत करते हैं। अवश्य ही मेरे लिए अब उनके झोंपड़ेमें कभी-कभी चावल या आलू उबाल लिया जाता है तथा रोटियाँ सेंक ली जाती हैं। वैसे वे नारियल तथा केलेके पुराने आहारपर ही रहते हैं। आपको देखकर वे प्रसन्न होंगे और यह आपकी कृपा होगी कि आप उस झोंपड़ीपर पधारें। वे अब भी किसी अतिथिको भोजन कराये बिना भोजन नहीं करते। आप जानते ही है कि अतिथि बननेवालोंका अब इस टापूमें कितना बड़ा समुदाय ही हो गया है; किन्तु वे लोग नारियल एवं केलेपर रहने-वाले मेरे बड़े भाईकी झोंपड़ीका आतिथ्य स्वीकार करनेका उत्साह कभी नहीं दिखाते।

मेरी बात आप पूछते हैं? मैंने तो सभ्यता छोड़ दी, नगर छोड़ दिया और विज्ञानके दिये उपहार छोड़ दिये। इसके फलस्वरूप मेरे शरीरने रोग छोड़ दिये। अब मजेसे

बडे भाईके लिए केले और नारियल संग्रह करता हूँ। यथेष्ट चल लेता हूँ और थोड़ा-बहुत दौड़ भी सकता हूँ। मेरे मनने भी बहुत कुछ छोड़ दिया है। अब शोक, क्लेश, क्षोभ मुझे तंग नहीं करते। मैंने अपने द्वीपके पुराने जीवनको अपनाया और उसने मुझे सुख तथा शान्तिके उपहार दिये।

मैं मानता हूँ आपकी यह बात कि द्वीपका पूरा समाज अब अपने कई दशक पीछेके जीवनपर नहीं लौट सकता। हमारे नारियलके वन जितनी सरलतासे काटे जा सकें, उतने शीघ्र बनाये नहीं जा सकते। हमारे हृदय तो सर्वथा ही नहीं बदले जा सकते। लेकिन एक काम किया जा सकता है। वह जो पीपलके नीचे मठिया है, हम उसे फिर बना सकते हैं। मेरा अर्थ सम्भवतः आप समझते होंगे। हम अपने देवताको फिर अपना सकते हैं और देवता तो तभी अपनाया जाता है, जब सत्य, सदाचार तथा परिश्रमसे पवित्र जीवन एवं पूजा-सामग्री लेकर हम उसकी मठियामें जाँय।

मुझे पता नहीं कि द्वीपके लोगोंने मठियाको अपनाया या नहीं और मैं नहीं जानता कि पृथ्वीके लोग भी मठियाको अपनायेंगे या नहीं ; किंतु मानवता क्या उस मठियामें नहीं है ? क्या मनुष्यको मनुष्य बननेके लिए मठियाकी पगडंडीपर बढ़े बिना भी कोई दूसरा मार्ग मिल सकता है ?

सर्वश्रेष्ठ दान

'प्रभु ! आज इस दीनका गृह श्रीचरणोंसे पवित्र हो !' वैशालीके दण्डनायक करबद्ध हो तथागतके सम्मुख उपस्थित थे। उन्होंने अपना रथ उपवनके बाहर ही छोड़ दिया था। बड़ी श्रद्धासे प्रातःकालीन प्रवचन समाप्त होनेपर वे खड़े हो गये थे और जब भगवान् बुद्धने उनकी ओर दृष्टि उठायी, उनका कण्ठ गद्‌गद हो उठा। 'भिक्षुसङ्घका स्वागत करनेका सौभाग्य माँगने आया है यह जन आपके समीप।'

'भन्ते! बुद्ध कृपणकी भिक्षा स्वीकार नहीं करते। पहले भी किसी बुद्धने ऐसा नहीं किया है।' पता नहीं क्या बात हुई, दण्डनायकके मुखपर दृष्टि पड़ते ही तथागतके विशाल नेत्रोंमें एक अद्‌भुत तेज आ गया। केवल चिरजीव आनन्दने लक्षित किया कि प्रभु आज कुछ असाधारण कह रहे हैं। तथागतका स्वर गम्भीर था। 'तुम दान करो ! प्रथम-प्रथम कोटिका दान तुम्हीं कर सकते हो।'

'कृपणकी भिक्षा बुद्ध स्वीकार नहीं करते।' उपस्थित गणनायकों तथा सम्मान्य नागरिकोंने एक दूसरेकी ओर देखा। भिक्षुवर्गमें भी सब गम्भीर नहीं थे। अनेक दृष्टियाँ

एक साथ उठीं दण्डनायककी ओर। उनमें घृणा, तिरस्कार अवहेलनाके भाव थे—'यह कृपण है।'

दण्डनायक दो क्षण हतप्रभ रह गये। उनकी मुखकान्ति लुप्त हो गयी। उनका शरीर काँपने लगा। सबको भय लगा—'वैशालीका प्रचण्डपराक्रम, उग्रतेजा दण्डनायक क्रुद्ध होगा। कुछ बखेड़ा उठेगा!' कुछ भी तो नहीं हुआ इस प्रकार। दो क्षण पश्चात् दण्डनायकका अत्यन्त हताश स्वर सुन पड़ा—'जैसी प्रभुकी आज्ञा!' उनका मस्तक और झुक गया। वे शीघ्रतासे मुड़े और उपवनके बाहर हो चले।

'प्रभु! वह रो पड़ा।' चिरंजीव आनन्द प्रभुके पृष्ठभागमें खड़े थे। उनकी दृष्टिके ठीक सम्मुख थे दण्डनायक। अतः दण्डनायकके नेत्रोंमें जो अत्यन्त प्रयत्नपूर्वक अवरोध करनेपर भी बिन्दु झलमला उठे थे, आनन्दसे वे छिपे नहीं थे। अब उन उदारका हृदय द्रवित हो उठा था और वे प्रभुसे प्रार्थना कर रहे थे—'आपकी अस्वीकृतिने उसे वेदनासे झकझोर दिया है। प्रभु प्रातः उसपर कृपा कर सकते हैं।

एक दिनसे अधिकका निमन्त्रण तथागत स्वीकार नहीं किया करते। भिक्षु कल और परसोंका प्रबन्ध करने लगें—इसे वे उनके त्यागव्रतसे च्युत हो जाना मानते हैं। यह सब जानते हुए आनन्दने प्रार्थना की थी। वे इतना ही चाहते थे कि प्रभु कोई ऐसा उत्तर दे दें, जिससे उस दुखी गृहस्थको आश्वासन प्राप्त हो जाय। 'यह तो

निश्चित है कि दण्डनायक आज विपुल दान करेगा। कल वह कृपण कहने योग्य रहे, यह शक्य नहीं है।'

'उसका सौभाग्य उसे यहाँ ले आया!' प्रभुके नेत्र अर्धोन्मीलित हो चुके थे। वे जैसे कहीं दूरसे कुछ कह रहे हों—'उसके आगतको न जानकर तुम दुखी हो रहे हो।'

'कुछ होनेवाला है—इस सद्गृहस्थके साथ कुछ अद्भुत होनेवाला है।' आनन्द अब शान्त हो गये; क्योंकि वे जानते थे कि भविष्यका स्पष्टीकरण तथागतका स्वभाव नहीं है, वे उसका संकेत भी यदा-कदा ही देते हैं।

'वैशालीका प्रचण्ड दण्डनायक—सम्मानित गणश्रेष्ठ भी उससे भय खाते हैं। वह नगरमें जिस ओरसे निकल जाय, महान् श्रेष्ठी भी अपने आसनोंसे उठकर उसे अभिवादन करते हैं। उस उग्रतेजा दण्डनायकका अपमान! गणनायकों, नागरिकों, श्रेष्ठियों और भिक्षुओं-से भरी सभामें उसका अपमान! गौतमके शत्रु इससे संतुष्ट हो सकते थे। उन्होंने दण्डनायकके सैनिकोंके प्रधानको उभाड़नेका अवसर पा लिया था।

'प्रभु!' साथके सैनिक स्वतः उत्तेजित थे। दण्डनायकके लौटते ही उनका नायक सम्मुख आया। उसके नेत्र अङ्गार हो रहे थे, मुख अरुण हो उठा था—'भिक्षु गौतम अब अत्यधिक धृष्ट हो गया है।'

'भद्रसेन! तुम भगवान्‌को अपशब्द कहनेकी धृष्टता कर रहे हो!' दण्डनायकने दृष्टि कठोर कर ली। 'केवल इस बार तुम्हें क्षमा किया जाता है!'

'आपका अपमान किया उस.........।'

'चुप रहो !' झिड़क दिया दण्डनायकने। शूरको कुछ समझदार भी होना चाहिए। मैं अपनी बात स्वयं समझ सकता हूँ।'

भद्रसेन भकुआ बन गया। सैनिक मुंह बाये खड़े देखते रहे। गौतमके शत्रुओंको कोई समय ही नहीं मिला। दण्डनायक चुपचाप अपने रथपर आ बैठे। उनके मुखपर क्रोध नहीं, अपार उदासी छायी थी। वे किसी प्रकार अपने अश्रु रोके हुए थे।

× × ×

'भद्रे! कृपणकी भिक्षा बुद्ध स्वीकार नहीं करते।' अपने भव्य भवनमें पहुँचते ही फूट पड़े दण्डनायक। हम कृपण हैं! हमारा यह ऐश्वर्य कलुषित है। प्रभुके स्वागतके योग्य नहीं है यह। फेंक दो! लुटा दो इसे!'

'प्रभुने हमारा आमन्त्रण अस्वीकार कर दिया! वह भावमयी महिला भी सुनते ही सूख गयी। कितने उत्साह-से वह पूरे सप्ताहसे लगी थी तथागतके स्वागतकी प्रस्तुतिमें। क्षण-क्षण उसके नेत्र द्वारकी ओर जा रहे थे और उसे यह क्या सुनना पड़ा? उसके शरीरमें तो जैसे रक्त ही नहीं रह गया। फटी-फटी आँखोंसे देखती रह गयी अपने स्वामीकी ओर—'प्रभु नहीं पधारेंगे।'

'पधारना तो पड़ेगा उन्हें!' दण्डनायकका नैसर्गिक ओज उनकी निराशामें भी मरा नहीं था। अब वह जग

पड़ा—'भगवान् किसीको अस्वीकार कर नहीं सकते। उन्होंने कहा है—प्रथम दान करो।'

'करो दान !, उस भावमयीको कहाँ आपत्ति थी ? वह तो जैसे उन्मादिनी हो उठी है—'यह सब दान कर दो !, अपने अङ्गके आभूषण उतारकर फेंकने प्रारम्भ कर दिये उसने। तथागत दान किये बिना उसके आँगनमें नहीं आना चाहते तो वह दान करेगी, अपना सर्वस्व दान कर देगी।

'तुम ठीक कहती हो !' दण्डनायकने बाधा नहीं दी पत्नीके पागलपनमें। उन्होंने भी मानो दानके स्वरूपकी प्रेरणा प्राप्त की पत्नीसे। 'प्रभुने प्रथम-कोटि-का दान करनेका आदेश दिया है। यह सब दान कर ही देना है।'

सेवक क्या कर सकते थे। उन्हें तो स्वामीका आदेश स्वीकार करना था। दो दण्ड भी नहीं बीते जब उपवनमें तथागतने एक भिक्षुसे सुना—'दण्डनायक अपना सर्वस्व लुटा रहे हैं। उन्होंने नगरमें घोषणा करा दी है और उनकी अपार सम्पत्ति अब राजपथपर सेवक उनके सौधसे फेंक रहे हैं।'

'आनन्द कहता है कि कल मुझे उसका निमन्त्रण स्वीकार कर लेना चाहिए !' प्रभुके अधरोंपर स्मित आया।

चिरंजीव आनन्द चौंके। 'कल भी प्रभु उसका आग्रह स्वीकार करनेकी बात तो नहीं कह रहे हैं।'

'भिक्षुको कलके प्रवन्धकी चिन्ता नहीं करनी चाहिए !' तथागतके स्वरमें उलाहना नहीं, स्नेह था। 'कल वह और प्रतीक्षा करे, इसमें कोई हानि नहीं दीखती।'

'भन्ते ! बुद्ध कृपणकी भिक्षा स्वीकार नहीं करते।' आनन्द अपने मनमें ही सोच रहे थे। 'कल उस सद्गृहस्थके आनेपर प्रभु यह बात कह कैसे सकते हैं। अब उसे कल निराश करनेका कौन-सा मार्ग हो सकता है।'

वह कल बहुत दूर तो था नहीं। रात्रि व्यतीत हुई और कल आज बनकर आ गया। प्रातःकालीन प्रवचन पूर्ण होनेपर सबने देखा कि कलकी भाँति आज भी दण्डनायक करबद्ध सम्मुख खड़े हैं।

'भन्ते ! बुद्ध कृपणकी भिक्षा स्वीकार नहीं करते। पहले भी किसी बुद्धने ऐसा नहीं किया है।' आज भगवान्‌ने दण्डनायकको प्रार्थना करनेका भी अवकाश नहीं दिया—'तुम दान करो प्रथम। प्रथम कोटिका दान तुम्हीं कर सकते हो।'

'जैसी प्रभुकी आज्ञा !' बुद्धकी वाणीने उपस्थित समुदायको उतना चकित नहीं किया, जितना चकित किया दण्डनायककी शान्त स्वीकृतिने। दण्डनायकने अपने सर्वस्वदानकी चर्चातक नहीं की। उन्होंने तो कलकी भाँति ही मस्तक झुकाया और शीघ्रतापूर्वक लौट पड़े अपने रथकी ओर।

चिरंजीव आनन्द आज भी प्रभुके पृष्ठप्रान्तमें थे। आज भी उनके सम्मुख ही थे दण्डनायक। आज उनको

दृष्टि बड़ी सावधानीसे दण्डनायकके मुखपर स्थिर थी। आज इस सद्‌गृहस्थके नेत्रोंमें अश्रु नहीं झलमलाये। आज इसके मुखपर अद्‌भुत गाम्भीर्य आया।

गणनायक, सम्मान्य नागरिक, श्रेष्ठिवर्ग, भिक्षुगण—आज कोई उपहास या अवहेलनापूर्वक दण्डनायककी ओर नहीं देख सका। आज सबके नेत्र प्रभुकी ओर उठ गये। 'प्रभु इन्हें कृपण क्यों कहते हैं ? क्या रहस्य है तथागतके इस अद्‌भुत व्यवहारका ? वैशालीके दण्डनायकसे और किस दानकी इन्हें आशा है ?'

तथागतने प्रात:कालीन प्रवचन समाप्त कर दिया था। वे आसनसे उठ चुके थे। अब तो उनसे कल कोई जिज्ञासा की जा सकती है।

× × ×

'प्रभु आ रहे हैं ?' कितने उल्लाससे गृहस्वामिनी स्वयं दौड़ी आयी थी द्वारतक।

'भद्रे ! हमने अभी प्रथम कोटिका दान नहीं किया है।' दण्डनायक आज क्षुब्ध नहीं थे। उनका स्वर शान्त-गम्भीर लगता था—'मुझे लगता है कि प्रभुकी प्रीति मैं पा गया हूँ। वे हमारी परीक्षा नहीं ले रहे हैं, हमें कोई परमपुनीत पथ प्रदान करना चाहते हैं; किंतु हमारा निमन्त्रण आज भी स्वीकृत नहीं हुआ है।'

'प्रभु नहीं पधारेंगे ?' वह भावुक महिला विह्वल हो गयी।

'वे अवश्य पधारेंगे!' दृढ़ श्रद्धा थी दण्डनायकमें। 'तुम पगली मत बनो! प्रथम हमें प्रथम कोटिका दान करना है।'

'क्या रहा है अपने पास अब?' उस महान् महिलाने कहा--'यह सदन और मेरे ये वस्त्र--यही बाधा बने होंगे। इन्हें शीघ्र दे डालो। मैं जीर्ण वस्त्र पहन लेती हूँ। हमारा काम एक तृण-कुटीरमें चल जायगा। सेवकोंको बिदा कर दो।'

'कल यह भी पर्याप्त नहीं सिद्ध होगा!' दण्डनायकने पत्नीको चौंका दिया।

'क्या?'

'हमने केवल अबतकका संग्रह दिया है।' दण्डनायक कह रहे थे। 'मेरी आय पर्याप्त अधिक है। आगेकी आयकी व्यवस्था कहाँ की हमने।'

'उसे हम दे डाला करेंगे दीनोंको!', पत्नीको कोई संकोच नहीं था। 'प्रभु स्वीकार करें तो उसे भिक्षुसङ्घको अर्पित कर दो।'

प्रभुने मुझे कहा है--तुम्हीं प्रथम कोटिका दान कर सकते हो।' दण्डनायक इस बार स्पष्ट हुए। 'इसमें तुम्हें कुछ संदेश नहीं सुन पड़ता? में अपनी आगेकी समस्त आय अध्ययनशील विद्यार्थियोंके निर्वाहके लिए अर्पित कर रहा हूँ। मैं उनके लिए ही उपार्जन करूँगा। गृहका निर्वाह अब तुम कैसे करोगी, तुम सोचो।'

विद्यादान प्रथम कोटिका दान है।' वह महिला प्रफुल्ल हो उठी। उसे विश्वास हो गया, प्रभु अवश्य कल उसके यहाँ पधारेंगे। 'मेरी बात मत सोचो। हमारा काम उटजमें चल जायगा। मुझे वस्त्र सीना आता है और वह हमारे निर्वाहको पर्याप्त है!'

× × ×

'भन्ते! तुम्हारा निमन्त्रण बुद्धको स्वीकार है।' प्रातःकालीन प्रवचन पूर्ण करके प्रभुने सम्मुख करबद्ध खड़े दण्डनायककी ओर देखा और उनके निमन्त्रण देनेकी प्रतीक्षा किये बिना ही बोले—'जबतक तुम चाहो, तबतकके लिए स्वीकार है; किंतु प्रथम कोटिका दान किया नहीं तुमने।'

'प्रभु!' दण्डनायकका कण्ठ भर आया था। वे बोलनेमें समर्थ नहीं थे। तथागतकी यह महती कृपा! एक दिनसे अधिकका निमन्त्रण एक साथ तो उन्होंने महाराज शुद्धोदनका भी स्वीकार नहीं किया था।

प्राणियोंको अभय कर देना—अपने महान्-से-महान् अपराधीको क्षमा।' तथागतने समझाया। 'दण्डका सर्वथा त्याग—यही सर्वश्रेष्ठ दान है। समस्त जीवोंको अभय दे देनेके समान कोई दान नहीं।'

'प्रभुको कोई और श्रद्धालु निमन्त्रित करेंगे!' दण्डनायकने एक बार फिर चौंका दिया सबको। उन्होंने

अब तथागतके चरण आगे बढ़कर पकड़ लिये। 'मुझे तो अब इनमें स्थान देनेकी कृपा करें।'

तथागतने उस दिन आग्रह करके निमन्त्रण लिया। वे पधारे भिक्षु-सङ्घके साथ दण्डनायकके भवनमें; किंतु उसी दिन सायंकाल भिक्षुसङ्घमें एक भिक्षु भी बढ़ गया। वे दण्डनायक थे और उनकी सहधर्मिणी भिक्षुणियोंके आवासमें उपस्थित हो चुकी थी सदाके लिए।

शरीर और आत्मा

[१]

बात आजकी नहीं है। वैसे है कलियुगकी ही बात ; किंतु इसे सत्ताईस चतुर्युगियाँ बीत चुकीं। अपने इस वैवस्वत मन्वन्तरके प्रारम्भमें तीन युग बीत जानेपर जब कलियुग आया था, उस कलियुगकी बात है। लेकिन वह भी कलियुग ही था, इसलिए बहुत कुछ अपने इस कलियुगसे उसकी समानता थी। लगभग ऐसे ही देश थे, ऐसे ही प्राणी थे, ऐसा ही समाज था।

उस समय अवन्तिका-नरेशके एक पुत्र था—बहुत सुन्दर, बहुत सुकुमार, बहुत सुखी। राजकुमार एक तो राजकुमार था, दूसरे अपने पिताका इकलौता पुत्र था। उसकी सेवामें बहुत-से सेवक सदा हाथ जोड़े खड़े रहते थे। उसे जिस वस्तुकी इच्छा होती थी, वह वस्तु तत्काल उसके पास पहुँच जाती थी। राजकुमार भद्रबाहु—यही उसका नाम था। वह बहुत कोमल मूल्यवान् वस्त्र पहिनता था, सारे शरीरमें और वस्त्रोंमें सुगन्धित इत्र लगाता था। स्वर्ण और मणियोंके आभूषण पहिनता था। उसके गलेमें

और कलाइयोंमें ताजे फूलोंकी माला पड़ी रहती थी। उसका बहुत-सा समय अपनेको सजानेमें ही बीतता था।

एक दिन राजकुमार भद्रबाहु राजभवनसे निकला। वह सुन्दर सज़े हुए रथपर बैठा था। उसके साथ घोड़ोंपर बैठे बहुत-से सैनिक थे। बहुत-से सेवक उसके साथ चल रहे थे। नगरका मार्ग स्वच्छ किया गया था, सींचा गया था। पताकाओं और तोरणद्वारोंसे सजाया गया था। लेकिन राजकुमारने राजभवनसे निकलनेपर कहा—'मैं नगरमें नहीं जाऊँगा। सरिताके किनारे-किनारे मुझे घूमना है।'

सरिताके किनारे राजकुमारके घूमने जानेका किसी-को पहलेसे कोई पता नहीं था। उधर कोई तैयारी नहीं हुई थी। लेकिन राजकुमारको रोकता कौन। उसका रथ उधर घूम गया। किनारे-किनारे कुछ दूर राजकुमारका रथ चलता गया। आगे सरिताके उस पार श्मशान था, वहाँ एक चिता जल रही थी। राजकुमारने पूछा—'वहाँ क्या हो रहा है? लोग इतनी अग्नि जलाकर क्या भून रहे हैं?'

राजकुमारने कभी किसीको मरते नहीं देखा था। उसके पास कोई रोगी व्यक्ति भी जाने नहीं पाता था। उसे पता ही नहीं था कि चिता क्या होती है। राजकुमारके साथ राज्यके मन्त्रीका पुत्र था। उसने कहा—'कुमार! वह चिता जल रही है। कोई मनुष्य मर गया है। उसके सम्बन्धी उसके देह को जला रहे हैं।'

'कोई बहुत कुरूप मनुष्य होगा !' राजकुमारको अपनी सुन्दरताका बड़ा गर्व था। उसे लगा कि कुरूप मनुष्य ही जलाये जाते होंगे।

मन्त्रीपुत्रने कहा—'यह तो पता नहीं कि वह कुरूप था या सुन्दर ; किंतु जो भी मरेगा, उसे जलाया तो जायगा ही और मरना एक दिन सभीको है।'

'किसी सुन्दर व्यक्तिको कोई क्यों जलायेगा ?' राजकुमारने मन्त्रीपुत्रको कुछ डाँटते हुए कहा।

'श्रीमान् ! शरीरमें सुन्दरता तो चमड़ेके रूप-रंगकी है।' मन्त्रीकुमारने नम्रतासे कहा। 'मरनेपर शरीरको रखा रहने दिया जाय तो उसमें-से दुर्गन्ध निकलने लगेगी। उसमें कीड़े पड़ जायँगे। उसकी ओर देखातक नहीं जायगा।'

'क्या ? केवल चमड़ा ही सुन्दर होता है ?' राजकुमार भद्रबाहुने अपने गुलाबकी पंखुड़ी-जैसे सुन्दर सुकुमार शरीरकी ओर देखा और उसके नेत्र कुछ कड़े हो गये।

'एक क्षण···' मन्त्रीका पुत्र अन्ततः मन्त्रीका ही पुत्र था उसने संकेत किया। एक सेवक नदीके किनारे पड़ी एक मनुष्यकी सूखी खोपड़ी ले आया। मन्त्रीपुत्रने उसे हाथमें लेकर कहा—'कुमार ! आप इसे देखते हैं ?'

'छि ! एक घिनौनी अत्यन्त कुरूप वस्तु !' राजकुमारने मुख फेरते हुए कहा 'फेंको ! मेरे पाससे इसे दूर फेंक दो !'

'यह लीजिये !' मन्त्रीके पुत्रने वह खोपड़ी नदीके जलमें धप्से फेंककर कहा—'हम सबके सिर और मुख ऐसे ही हैं। भीतर तो सबका यही रूप है।'

'मेरा मुख भी ऐसा ही है?' राजकुमार चौंक पड़ा।

'कुमार! मुझे क्षमा करें!' मन्त्रीपुत्रने दोनों हाथ जोड़कर मस्तक झुका दिया।

राजकुमारके नेत्रोंसे टप-टप आँसूकी बूँदें गिरने लगीं। उसने अपना रथ राजभवन लौटा ले चलनेकी आज्ञा दे दी।

× × ×

[२]

अवन्तिकाके नरेशकी चिन्ताका पार नहीं है। महाराजके एकमात्र पुत्र कुमार भद्रबाहुको पता नहीं क्या हो गया है। वे न ठिकानेसे भोजन करते हैं न स्नान करते हैं। माताके बहुत आग्रह करनेपर थोड़ा कुछ मुँहमें डाल लेते हैं। उनके सुन्दर घुँघराले बाल रूखे उड़ा करते हैं। सेवकोंको वे न अपने शरीरमें इत्र मलने देते हैं न सिरमें सुगन्धित तैल ही लगाने देते हैं, फूलोंकी माला और आभूषणोंसे उन्हे जैसे घृणा हो गयी है। कोई उनसे कुछ पूछता है तो राजकुमारके बड़े-बड़े नेत्रोंसे आँसूकी बूँदें गिरने लगतीं हैं।

बड़ा विचित्र रोग है राजकुमारका। कोई मनुष्य उनके पास जाता है तो वे उसके मुखको एक बार कुछ

क्षण एकटक देखते रहते हैं और फिर मुँह फेरकर रोने लगते हैं। जिन लोगोंको वे बहुत मानते थे, जिनसे मिलकर बहुत प्रसन्न होते थे, उनके आनेपर भी अब राजकुमारमें कोई उल्लास नहीं आता। अपने अत्यन्त प्रिय मित्रोंके आनेपर कभी-कभी वे बड़ी उमंगसे मिलनेको उठते हैं; किंतु उसी क्षण फिर धम्‌से आसन या पलंगपर गिर-से जाते हैं। उनकी सब उमंग, पता नहीं, कौन-सी दानवी निगल लेती है। वही एकटक मुख घूरना और फिर वही रोना......।

महाराजने बड़े-बड़े चिकित्सक बुलवाये। रस, भस्म, पाक, चूर्ण आसव, वटिका—पता नहीं, क्या-क्या दिया वैद्योंने। राजकुमारको आजकल जैसे स्वाद क्या होता है, यह पता ही नहीं लगता। पिताके आग्रह करनेपर वे चुपचाप औषध ले लेते हैं। औषध कड़वी या तीखी तो नहीं है, यह प्रश्न उनसे पूछना ही व्यर्थ है। वे पूछनेवालेका मुख इस प्रकार देखने लगते हैं, मानो उनके नेत्र कहते हों—'मैंने आज्ञाका पालन तो कर दिया। अब आप और क्या चाहते हैं?'

ज्योतिषियोंने कुण्डली देखी, हाथ देखे और पता नहीं राहु-केतु, शनि-मङ्गलकी कितनी शान्ति करायी गयी। कितने अनुष्ठान-पूजन नित्य चल रहे हैं। कोई राजकुमारके ऊपर मन्त्र पढ़ता हुआ कुशसे जल छिड़क जाता है, कोई भस्म लगाता है। कभी कोई उनकी भुजामें कोई यन्त्र बांधता है और कोई दूसरी कोई खटपट कर जाता है। लेकिन राजकुमारके लिए जैसे कुछ हो ही नहीं

रहा है। वे तो एक मूर्तिकी भाँति हो गये हैं—जिसके जो मनमें आये, वह कर जाय।

वैद्योंने महाराजसे कहा—'युवराज हमारी दृष्टिमें स्वस्थ हैं। उन्हें निद्रा ठीक आती है, पाचन ठीक होता है। हमने उनकी नाड़ी, हृदयकी गति, मल-मूत्रादिकी सब प्रकार परीक्षा कर ली। उन्हें कोई रोग नहीं है।'

ज्योतिषियोंने बताया—'राजकुमारकी कुण्डलीमें सब ग्रह अनुकूल हैं। उनके हाथकी रेखाएँ और शरीरके लक्षण तो उलटे यह कहते हैं कि उनका परम मङ्गल होना चाहिए।'

मन्त्र-तन्त्रके मर्मज्ञोंने कहा—'भूत-प्रेत-पिशाचकी, यक्ष-राक्षस-गन्धर्वकी तो चर्चा ही क्या, कोई देवता भी राजकुमारको कष्ट दे सके—ऐसा सम्भव नहीं है। हम-लोगोंने सब प्रकारसे उन्हें सुरक्षित कर दिया है।'

महाराजने सबकी बातें सुन लीं, सबको भरपूर दक्षिणा प्राप्त हुई; किंतु महाराजकी चिन्ता दूर नहीं हुई। उनके कुमारका रोना दूर नहीं हुआ, उनकी उदासीनता दूर नहीं हुई! राजकुमार भद्रबाहुका सुन्दर शरीर पीला पड़ता जा रहा है। वे दिनोंदिन दुबले होते जा रहे हैं। महाराजकी चिन्ताका कोई समाधान नहीं।

अन्तमें राज्यके वृद्ध एवं नीति-निपुण महामन्त्रीने अपने ऊपर यह भार लिया कि वे राजाकुमारको स्वस्थ एवं प्रसन्न बना देंगे। महाराजको तनिक आश्वासन मिला।

अबतक कभी ऐसा नहीं हुआ कि महामन्त्रीने किसी कामका भार उठाया हो और वह अधूरा रह गया हो।

× × ×

[३]

घंटे बीते, दिन बीते और सप्ताह बीतनेको आया। अवन्तिका-राज्यमें—नगर नहीं, पूरे राज्यमें हलचल मची हुई है। राज्यका एक-एक मनुष्य जिन्हें अपने पितासे भी अधिक आदर देता है, वे वयोवृद्ध दयालु महामन्त्री भगवान् महाकालके मन्दिरमें भूखे-प्यासे सात दिनोंसे बैठे हैं। वे सात दिन पहले बैठे थे अपने आसनपर और अबतक बैठे हैं। अभी वे जीवित हैं; क्योंकि उनके ओष्ठ हिल रहे हैं। लेकिन अन्न-जल और निद्राके बिना कबतक टिका रहेगा उनका बूढ़ा शरीर। प्रजाके लोग दल-के-दल नगरमें कोलाहल करते घूम रहे हैं—'हमारे महामन्त्री ! हमारे पिता !'

महाराज अब पश्चात्ताप कर रहे हैं। उन्हें क्या पता था कि महामन्त्री ऐसा कुछ करेंगे। महाराज गये और अपने शरीरतकसे उदासीन राजकुमार भद्रबाहुतक गये भगवान् महाकालके मन्दिरमें। लेकिन पुकारनेपर तो क्या, शरीर छूने और हिलानेपर भी महामन्त्री बोलते नहीं। उनके नेत्र खुलते नहीं। हाँ, वे जीवित हैं; क्योंकि उनके ओष्ठ हिल रहे हैं। मन्दिरके बाहर अपार जनसमूह कोलाहल कर रहा है और मन्दिरमें राजकुमार

भद्रबाहु महामन्त्रीकी गोदमें सिर रखकर फूटफूटकर रोते हुए जनताके साथ कह रहे हैं—'हमारे महामन्त्री ! हमारे पिता !'

'कुमार ! तुम आ गये ? अच्छा, अभी यहीं रहना, जाना मत ! भगवान् महाकालका दर्शन करने महर्षि लोमश पधार रहे हैं।' महामन्त्रीने सहसा नेत्र खोले। उन्होंने बड़े स्नेहसे राजकुमार भद्रबाहुकी पीठपर हाथ फेरा। अब उनकी दृष्टि महाराजपर पड़ी और बाहरसे आती जनताकी पुकार उन्होंने सुनी। महाराजके सम्मानमें खड़े हो गये वे और बोले—'महाराज ! भगवान् महाकालने अपने इस अकिञ्चन दासकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। मुझे राजकुमारके साथ अभी कुछ मुहूर्त यहाँ रहना है। बाहर पता नहीं क्यों लोग कोलाहल कर रहे हैं। आप पधारें और प्रजाका समाधान करें !'

'आप कुछ क्षणको मन्दिरसे बाहर नहीं चलेंगे ?' महाराजने बड़ी नम्रतासे कहा—'प्रजा अपने महामन्त्रीका दर्शन चाहती है।'

महामन्त्री मन्दिरके द्वारपर आये। उन्होंने लोगोंको आश्वासन दिया। जनता जिसका सम्मान करती है, उसके आदेशका पालन करना भी जानती है। थोड़ी देर बाद वहाँ एक भी व्यक्ति नहीं था। अपने वयोवृद्ध महामन्त्रीका आदेश मानकर वे सब लोग अपने घरोंको लौट चुके थे। महामन्त्री मन्दिरमें पहुँचे और दूसरे ही क्षण उन्होंने द्वारसे आते एक तेजपुञ्जको पृथ्वीमें लेट-कर प्रणाम किया।

'कुमार ! भगवान् महाकालके अनुग्रहसे महर्षि लोमशने हमें दर्शन दिया है ।' राजकुमार इतने भोंचक्के रह गये थे कि उनकी समझमें ही नहीं आता था कि वे क्या करें । उन्होंने अपने दोनों हाथोंसे नेत्र बंद कर लिये थे । उन्होंने कभी स्वप्नमें भी नहीं सोचा था कि भगवान् सूर्य कभी पृथ्वीपर उतर सकते हैं । मन्दिरमें जो प्रकाशपुञ्ज आ रहा था, वह ऐसा ही था, जैसे सूर्य भूमिपर उतर आये हों । महामन्त्रीने राजकुमारको सचेत किया—'इस युगमें हम मनुष्योंके कलुषित नेत्र जिनका दर्शन नहीं कर पाते, वे महर्षि कृपा करके तुम्हारे सामने प्रकट हुए हैं ।'

राजकुमारका साहस नेत्र खोलनेका नहीं हुआ । उसने नेत्र बंद किये-ही-किये भूमिमें लेटकर प्रणिपात किया । वह जटाधारी तेजोमयी मूर्ति—महामन्त्रीने भी केवल इतना ही देखा कि वह मूर्ति भगवान् महाकालकी मूर्तिके पास पहुँच गयी है । महामन्त्रीके नेत्रोंमें भी चकाचौंध छा गयी थी । वे मस्तक झुकाकर मन्दिरमें एक किनारे खड़े हो गये । उन्हें तबतक प्रतीक्षा करनी थी, जबतक महर्षि भगवान् महाकालकी पूजा करें ।

× × ×

[४]

'महामन्त्रीजी ! चाचाजी !' राजकुमारने महामन्त्री-की गोदमें सिर छिपा लिया । महामन्त्री स्वयं भी इस

समय अपने-आपमें नहीं हैं। उन्हें भी पता नहीं कि वे कहाँ खड़े हैं। अनजानमें ही उनका हाथ राजकुमारकी पीठपर घूम रहा है।

राजकुमारका हृदय धक्-धक् कर रहा है। उसने नेत्र बंद कर रक्खे हैं, पलकें दबा रक्खी हैं; किंतु अप्राकृत दृश्य नेत्रोंसे देखे जानेकी अपेक्षा कहाँ करते हैं। सब कुछ नेत्र बंद करनेपर भी ऐसा दीख रहा है, जैसे वह सब नेत्रोंमें ही बस गया हो। क्या है वह सब ? भगवान् महाकालके गण—भूत, प्रेत, पिशाच, योगिनियाँ, वेताल—लेकिन ये तो नाम हैं, महाकालके गण केवल नाम नहीं, वे संज्ञा नहीं, वे देवता हैं- ज्वर, उन्माद, अपस्मार, हैजा, क्षय, शीतला आदि भयंकर रोगोंके, विपत्तियोंके, महामारियोंके साकार देवता और वे सब जैसे भगवान् महाकालके मन्दिरमें उस दिन मूर्तिमान् होकर महोत्सव मना रहे थे।

बलवानोंका बल ज्वर पीता जा रहा है—मीठे पेयके समान वह गटागट पी रहा है। जो मत्त गजराजके सामने ताल ठोक सकते थे, दो दिनमें वे लाठी टेककर उठने लगे हैं, पीले पड़ गये हैं। पैर काँपते हैं उनके। उन्मादका देवता विद्वानों-बुद्धिमानोंकी विद्या, प्रतिभा मक्खनके गोलेके समान निगलता जा रहा है। गूँज रहा है उसका अट्टहास। बड़े-बड़े व्याख्याता, उद्भट शास्त्रार्थ-महारथी—बच्चे तालियाँ बजा रहे हैं और उन्हें पता नहीं है कि वे क्या बक रहे हैं—कितनी लज्जाजनक गंदी बातें वे कह रहे हैं। हैजा और क्षयके देवता—रूप जैसे उनका

जलपान है, शक्ति और आयु जैसे उनकी मुख-शुद्धिके साधन हैं। सुन्दर स्वस्थ तरुण, फूल-सी खिली सुकुमार, सौन्दर्यकी पुतलियाँ—उनकी ओर देखातक नहीं जाता। गड्ढेमें धँसे उनके नेत्र, पीले-पीले मुख, मुखसे निकलता विषैला दुर्गन्धित······। राजकुमार चीख पड़ा। उसे लगा कि उसके भीतरकी आँतेंतक मुखके मार्गसे निकल जायँगी।

कोई चीखे, कोई चिल्लाये, कोई कराहे—भगवान् महाकालके गणोंका महोत्सव बंद तो होनेसे रहा। भगवती शीतला रूपवानोंके रूपको झल्लाई-सी, नोचती-खसोटती जा रही हैं। उन्होंने राजकुमाको अपने लाल-लाल नेत्रोंसे देखकर डाँटा—'तू चीखता क्यों है? हम तेरा क्या बिगाड़ते हैं? हमने किसीका भी क्या बिगाड़ा है? यह चमड़ा, मांस, रक्त, हड्डी, कफ, पित्त—यह सब तो हमारा है। तुमलोगोंने हमारी वस्तुओंको अपनी माना क्यों? हम अपनी वस्तुएँ लेते हैं, उनसे खेलते हैं तो इतनी आह-कराह, चीख-पुकार क्यों?'

बेचारा राजकुमार—उसने दोनों हाथोंसे महामन्त्रीको घबराकर पकड़ लिया। स्वयं महामन्त्रीने दोनों हाथोंसे भूमि पकड़ ली। ऐसे लगता था कि दिशाएँ फट रही हैं, तारे टूट रहे हैं, पृथ्वी चूर-चूर हो रही है। अग्नि हाहाकार कर रहे हैं, समुद्र उमड़-घुमड़कर छा गये हैं त्रिलोकीपर। पर्वतोंके समान राशि-राशि शव धू-धू करके जल रहे हैं और नाच रहे हैं भगवान् महाकाल अपनी जटाएँ बिखेरे, त्रिशूल उठाये। ब्रह्माण्डराशि उनके चरणोंके आघातसे

इस प्रकार चूर्ण हो रही है, जैसे कोई पुष्ट तरुण कुम्हारकी हाँडियोंके ढेरपर उछल-उछलकर नाच रहा हो और हाँडियाँ फूट रही हों।

ज्वाला, धूम्र, हाहाकार, भयानक शब्द—कोई कल्पनातक न कर सके वह महाप्रलय और वह नृत्य है—उन्माद नृत्य हैं महाकालका। महर्षि लोमश हाथ जोड़े थर-थर काँप रहे हैं। भगवान् महाकालके चरणोंके नीचे एक ब्रह्माण्ड चूर्ण होता है और महर्षिके शरीरका एक रोम टूटकर गिर जाता है। गिरते जा रहे हैं महर्षिके रोम। वे पुकार रहे हैं, प्रार्थना कर रहे हैं—'रक्षा! प्रभो! रक्षा करो।'

दो क्षण—दो क्षण भी वे दो कल्प-जैसे थे। उतनी ही देरमें राजकुमारके हृदयकी गति बंद नहीं हुई, यही क्या कम आश्चर्य है। लेकिन दो क्षणमें राजकुमारने देखा एक शिशु—नवनीतसे भी सुकुमार, चन्द्रसे भी उज्ज्वल, सौन्दर्यसे भी सुन्दर शिशु। भूत, प्रेत, पिशाचोंने मस्तक झुका दिये। प्रलयाग्निकी लपटें काईकी भाँति फट गयीं, महाकालके चरण एक क्षणको ठिठक गये। उन्होंने शिशुको गोदमें उठा लिया।

वही प्रलयनृत्य, वही प्रकाण्ड-ताण्डव, वही पिशाचोंका अट्टहास, वही अग्निका हाहाकार; किंतु शिशु हँस रहा है। महाकालकी गोदमें वह शिशु—अपने बालकको गोदमें लिये कोई पिता जैसे उसे प्रसन्न करनेको उछाल रहा हो। शिशुके उन्मुक्त हास्यसे झरती

ज्योतिर्मयी सुधाधारा। राजकुमारके मनसे भय, घबराहट, धुकपुकी सब दूर हो गयी है। शिशु—केवल शिशुका उज्ज्वल हास्य है उसके मनःपटपर।

'यही तू है। यही तेरा स्थान है। तुझे यहीं पहुँचना है। यह जो प्रेतों, पिशाचों, योगिनियोंका खिलौना है, उनका आहार है, तू उसे अपना बनाकर क्यों रोता है?' महर्षि लोमश जैसे फिर अपने तेजोमय रूपमें प्रकट हो गये।

× × ×

महामन्त्री और राजकुमार भद्रबाहु मन्दिरसे उस दिन लौट आये। अब कोई राजकुमारकी सुन्दरताकी प्रशंसा करता है तो वह केवल हँस देता है। मन्त्रीपुत्रसे एक दिन उसने मनुष्यकी खोपड़ी मँगाकर देखी और हँसा—'यह बेतालोंकी गेंद! एक ऐसी गेंद इस शरीरके भीतर भी छिपी है—यही तो। वह गेंद बेताल ले ले, इससे मेरा क्या होता-जाता है। मैं महाकालका अमर पुत्र—मुझे डर किसका?'

भगवान् महाकालका एकनिष्ठ उपासक राजकुमार भद्रबाहु—उसे हुए सत्ताईस चतुर्युगीं बीत चुकीं।

सर्वस्व दान

'सम्राट् संघके शरणापन्न हैं।' स्थाण्वीश्वर (कन्नौज) की वार्षिक श्रमण-परिषद्की आज अन्तिम उपस्थिति है। सम्राट् हर्षवर्द्धनको प्रयागके महाकुम्भमें जानेकी शीघ्रता है। सेवक वहाँ पहुँच चुके हैं पर्याप्त पूर्व ही। सम्राट् संक्रान्तिका त्रिवेणी-स्नान करेंगे ही; किंतु कुम्भ एवं अर्धकुम्भीके समय होनेवाली प्रयागकी मोक्ष-सभा—एक बौद्ध सम्राट् ब्राह्मणधर्मको इतना सम्मान दे, प्रयागमें ब्राह्मणोंको प्रति छठे वर्ष सर्वस्व-दान करे, यह बौद्धसंघके अनेक तरुण भिक्षुओंको रुचिकर नहीं लगता। संघमें दीक्षित नवतरुणोंका नवीन उत्साह इसे एक प्रकारका अनर्थ ही मानता है। आज श्रमणपरिषद्में एक तरुण भिक्षु उठकर खड़ा हो गया है। वह अकेला बोल रहा है, किंतु सभी—स्वयं सम्राट् भी जानते हैं कि वह अकेला नहीं है। वह भिक्षुओंके एक बड़े समूहके मतका प्रतिनिधित्व करता बोल रहा है—'एक बौद्ध सम्राट्की शक्ति तथागतके संघके अभिवर्द्धनमें ही व्यय होनी चाहिए।'

'संघ तथागतके उपदेशके प्रसारका साधनमात्र है भद्र।' सम्राट्को बोलना नहीं पड़ा। राजगुरु एवं श्रमण-

परिषद्के अध्यक्ष भिक्षुश्रेष्ठ ह्वेनसांगने तरुण भिक्षुको रोक दिया आगे बोलनेसे। 'भगवान् तथागतका उपदेश समूहों, जातियोंका बँटवारा करके प्रतिस्पर्धा बढ़ाने, द्वेष एवं संघर्षको पोषण देनेके लिए नहीं है। मानवमात्र—प्राणीमात्रके लिए प्रेम एवं समताका संदेश है उसमें। बौद्धधर्मकी ही यह महानता है कि यह विजातीय विदेशी चीनदेशवासी आज भारतके ज्ञानका प्रसाद पाकर आपके द्वारा सम्मानित हुआ है।'

लेकिन जो धर्म—जो समाज सदासे संघकी प्रगतिका अवरोधक रहा है।' तरुण भिक्षुको संतोष नहीं हुआ था।

'उसे और अधिक स्नेह—और अधिक अपनत्व मिलना चाहिए।' भिक्षुश्रेष्ठने उसी गम्भीरतासे उत्तर दिया। 'तथागतने प्रतिस्पर्धाकी शिक्षा तो कहीं नहीं दी है।'

'मैं नालन्दाके सम्मान्य स्नातक एवं शिक्षक तथा आचार्य शीलभद्रके आदरणीय सहाध्यायीसे तर्क कर सकूँगा ऐसी क्षमता मुझमें नहीं है।' भिक्षुने लगभग अपनी बात समाप्त कर दी—'लेकिन मैं केवल अपना मत नहीं व्यक्त कर रहा हूँ, संघके भिक्षु समूहमें एक बड़ा समुदाय मेरे साथ है।'

'मैं संघको मस्तक झुकाता हूँ।' सम्राट् हर्षका धनगम्भीर स्वर गूँजा। उस सुगठित गौरवर्ण शरीरसे आभूषण न होनेपर भी जो एक तेज प्रकट हो रहा था, उस संयम, सात्त्विकताकी मूर्तिमें जो एक अद्भुत गौरव था, उसने सबको स्तब्ध—शान्त कर दिया। 'मैं निजी-

रूपसे संघके शरनापन्न हूँ और संघ आदेश दे तो यहींसे भिक्षु होकर उसकी सेवामें लग जानेको प्रस्तुत हूँ ।'

दो क्षण सम्राट् रुके । किसीको इस उत्तरकी आशा नहीं थी । 'दक्षिणापथके शासक महाराज पुलकेशी बौद्ध नहीं हैं । हर्षका अनुगमन करनेवाले इक्कीस नरेश एवं शतशः मण्डलीश्वर भूपति बौद्ध नहीं हैं और वे हर्षको भयसे सम्राट् मानते हैं, भयसे हर्षका अनुगमन करते हैं—यह मान ले इतना हर्ष मूर्ख नहीं है । सम्राट् तो दूर—हर्ष तो नरेश भी नहीं है । वह तो साम्राज्ञी राज्यश्रीका प्रतिनिधिमात्र है ।'

भिक्षुओंने एक दूसरेकी ओर देखा । सबके हृदय धक्-धक् करने लगे । सबके मुखोंपर चिन्ताके लक्षण व्यक्त हुए—'तरुण भिक्षुने अनवसर चर्चा की । पता नहीं सम्राट् क्या करने जा रहे हैं ।' केवल भिक्षुश्रेष्ठ आचार्य ह्वेनसांग स्थिर बैठे थे । उनकी प्रसादभरी दृष्टि बड़े गौरवसे अपने योग्य शिष्यको कृपाका दिव्य वरदान प्रदान कर रही थी ।

'शासक किसी धर्मका प्रतिनिधि नहीं होता । वह प्रजाका सेवक है, धर्म उसका व्यक्तिगत है । शासकके नाते प्रजाकी सेवा करनी है उसे ।' सम्राट्ने आगे बात और स्पष्टकी—'स्वयं तथागतने कहीं ब्राह्मण-धर्मको तिरस्करणीय माना हो, यह मुझे स्मरण नहीं । प्रत्येक धर्ममें तो अज्ञान तथा अनपेक्षित आचार भ्रम, प्रमाद एवं व्यक्तियोंके स्वार्थवश आ जाते हैं, उनका समय-समयपर सत्पुरुषोंद्वारा परिष्कार होता रहा है । संघके नियमोंमें स्वयं तथागतको ये परिष्कार करने पड़े हैं ।'

'प्रयागकी मोक्ष-परिषद् ब्राह्मण एवं भिक्षु दोनोंके लिए उन्मुक्त है।' भिक्षुश्रेष्ठने विस्तारको रोक दिया, जिसमें कटुता एवं विवाद न उत्पन्न हो। कुम्भ केवल एक समूहका पर्व नहीं है। वह तो राष्ट्रका सांस्कृतिक पर्व है और देशके शासकोंको श्रद्धासमवेत उस महासमुदाय-की सेवा करके पवित्र होना ही चाहिए जो देशके कोने-कोनेसे इस पुण्य अवसरपर तीर्थभूमिमें पहुँचता है।'

× × ×

[२]

'भाई! कल तुम मेरे यहाँ वस्त्र लेने आओगे?' देवी राज्यश्रीने अपने गौरवमय छोटे भाईको बड़े स्नेहसे देखा। कितना महान् है उनका यह अनुज। स्थाण्वीश्वरका गौरव, भारतका सम्राट् और इतना स्नेहमय कि चाहे सारा भारत हर्षको सम्राट् कहे—हर्ष अपनेको बहिन राज्यश्री-का प्रतिनिधिमात्र मानते हैं।

'भाई जब कंगाल हो जाय तो बहिनको छोड़कर किसके द्वारपर भिक्षुक बने।' हर्षके मुखपर मन्द हास्य आया।

'लेकिन इस बार तुम यह पुराना उत्तरीय ले लेना।' राज्यश्रीनें एक कौशेय उत्तरीय हाथमें उठाया। उत्तरीय जीर्ण हो चुका है; किंतु अब भी यत्र-तत्र ही फटा है। सम्राट् सर्वथा चिथड़े लपेटे-यह क्या शोभा देता है?'

'यह तो मेरा हो चुका और कल नाविक इसे पाकर प्रसन्न हो जायगा। बहिनका उपहार ही तो भाईका

सर्वस्व है। अन्यथा हर्षके सर्वस्वदानमें धरा क्या है।' हर्षवर्धनने वह जीर्ण उत्तरीय बहिनके हाथसे लेकर कंधों-पर डाल लिया।

'बहिनके पास ही क्या धरा है? शत्रुने उसे तो अरण्यवासिनी बना दिया था। बलशाली भाईकी शौर्यमयी भुजाएँ चितारोहरणके लिए प्रस्तुत बहिनको साम्राज्ञी बना दें, यह बात दूसरी है; किंतु बहिन तो वही है न।' राज्यश्रीके नेत्र टपटप टपकने लगे। ये स्थाण्वीश्वरकी अधिदेवी—हर्ष किसी काममें ननुनच तक नहीं करते इनकी सम्मतिके बिना। राज्य-नियमोंमें राज्यश्री साम्राज्ञी हैं। और वे साम्राज्ञी हैं, यह कोई अस्वीकार कर नहीं सकता; किंतु ये पतिहीना तपस्विनी—भूमिशयन, साधारण वस्त्र, नित्य एकाहार व्रत—साम्राज्य-का करना क्या है इन्हें। वह तो छोटे भाईका स्नेह है, अनुरोध है जो यह वनदेवताकी साक्षात् तपोमूर्ति राज-सदनको, राजसभाको पवित्र करती है।

'बहिन!' हर्षका कण्ठ भर आया। बहिनके नेत्रोंमें अश्रु उनसे कभी नहीं देखे जाते।

'तुमने अभी गङ्गाजल भी नहीं लिया भाई!' राज्यश्रीने झटपट नेत्र पोंछ लिये और प्रसंग बदल दिया। आजकल केवल तीसरे प्रहरके प्रारम्भमें सम्राट् थोड़ा-सा फलाहार ग्रहण करते हैं। रात्रिमें दूध लेनेके बदले वे केवल गङ्गाजल लेते हैं। भीड़भाड़ स्वागत-सत्कार, दान-पुण्य और समस्त दौड़धूप—कार्यव्यस्तताके पश्चात्

लगभग मध्यरात्रिको थके-माँदे जब वे विश्रामके लिए शिविरमें पहुँचे हैं—इस समय कोई ऐसी बात तो नहीं होनी चाहिए, जिससे उनका भावमय हृदय क्षुब्ध हो।

'तुममें केवल स्नेह-ही-स्नेह है बहिन ?' हर्षने भरे दृगोंसे राज्यश्रीकी ओर देखा। माता जैसे निरन्तर पुत्रका ध्यान रखती है—हर्षकी क्षण-क्षणकी चिन्ता यह उनकी तपस्विनी वहिन ही तो करती है।

'तुम मेरे स्नेहको मानो तब तो।' राज्यश्रीनें तनिक स्नेहकी फटकार दी—'एक पुराना उत्तरीय भी तुम्हें स्वीकार नहीं। चिथड़ा लोगे—ऐसा चिथड़ा जिसे कोई राहका भिखारी भी लपेटना न स्वीकार करे और उसी फटे चिथड़ेको लपेटे कुम्भके इस अपार समुदायके मध्यसे भारतका सम्राट् प्रयाण करेगा।'

'आचार्य कहते हैं कि जीव संसारमें राग और द्वेष इन दो बन्धनोंसे ही बँधता है। हर्षने तथागतकी शरण लेकर द्वेषको तो निर्मूल कर दिया है। प्रयागमें प्रत्येक कुम्भ या अर्धकुम्भीपर यह जो मोक्ष-सभा होती है, वह दूसरोंके लिए मोक्षदायनी हो या न हो, हर्षके लिए भी मोक्षदायिनी न हो तो उसका आयोजन दम्भ ही तो होगा।' सम्राट्—पर नहीं, त्यागी भाईने तपस्विनी बहिनको समझाना चाहा।

'मैं तुम्हारी मोक्ष-सभाका विरोध कहाँ करती हूँ।'

'तुम अपने ही आयोजनका विरोध कर भी कैसे सकती हो।' हर्षका स्वर भावगम्भीर बना रहा—'यह तो

मैंने तुमसे ही सीखा है कि संसारके पदार्थोंका जितना त्याग किया जाय, उनसे राग जितना-जितना दूर हो, मोक्ष उतना-उतना पास आता है ; उतना-उतना ही बन्धनमुक्त होता है जीव। हर्षके पास एक भी पदार्थ—एक भी वस्त्र-खण्ड ऐसा रह जाय जो दूसरे किसीके काममें भी आ सकता हो तो सर्वस्वदानकी घोषणा मिथ्या नहीं होगी ?'

'अच्छा अब गङ्गाजल पी लो और सो जाओ ! प्रहरी मध्यरात्रिका शंखनाद कर रहे हैं और तीसरे प्रहरके अन्तमें तुम्हें उठ जाना है।' राज्यश्रीने जलपात्र उठाया—'मैंने इस बार इतना फटा चिथड़ा तुम्हारे लिए सुरक्षित रक्खा है कि तुम उसे बहुत दिन स्मरण रखोगे।'

'मैं चाहे भूल भी जाऊँ, तुम्हें अवश्य स्मरण रहेगा वह।' परंतु हर्षको और बोलने देनेका अर्थ था उनके विश्रामके एक प्रहरसे भी कम समयको और कम करना। राज्यश्रीके हाथमें जलपात्र दे दिया और वे शयन-कक्षसे सेविकाओंके साथ अपने कक्षमें चली गयीं।

× × ×

[२]

प्रयागका महाकुम्भ—यह पर्व बारह वर्षपर आता है और जबसे स्थाण्वीश्वरकी सीमाएँ हर्षके पराक्रमसे विस्तृत हूई, कुम्भके स्नानकी महिमाको सम्राट्‌की मोक्षसभाके आयोजनने द्विगुणित कर दिया। गङ्गा-यमुनाके अन्तरालकी पावन भूमिमें, महर्षि भरद्वाजके आश्रमके

पुनीत पदप्रान्तसे अक्षयवटकी मङ्गल छायातक शतशः महापुरुषोंके आश्रम सदा बस जाते हैं। अवधूत तपस्वियोंके आसन इस शीत ऋतुमें भी हिमशीतल बालुकापर केवल धनीके सहारे स्थिर रहते हैं—स्थिर रहते हैं वे तपःकाय अनावरण, दिग्वसन नग्न अकाशके नीचे तब भी जब आकाश उपलवृष्टि करता है या वर्षाकी धार उनकी आधारभूता धूनीकी अग्नि शीतल कर जाती हैं। विभूतिभूषित उनके पवित्र देह—तपमें यदि प्रदर्शन एवं कामना न हो, वह भुवनको पवित्र करता है।

शतशः शिविर हैं संतों, महापुरुषों, विद्वानों एवं सम्प्रदायप्रवर्तकाचार्योंकी परम्परामें प्रतिष्ठित लोकपूज्य आचार्यचरणवृन्दके। श्रुति-पुराणोंकी कथा, धर्मका प्रवचन, भगवन्नामका पवित्र कीर्तन—गङ्गा-यमुना-सरस्वतीकी पावन त्रिवेणीके समान यह आध्यात्मिक वाग्देवताकी मङ्गल-आराधना समस्त वातावरणको पुनीत करती है।

मुण्डित मस्तक श्रद्धावनत यात्रियोंके यूथ-यूथ त्रिवेणीका स्नान करते हैं। कालिन्दीकी नीलिमा जहाँ भागीरथीकी शुभ्रताको अङ्कमाल देती है—कुम्भके पुनीत पर्वपर मानव वहाँ निमज्जन करके अपनेको कृतार्थ करने ही तो यात्राका अपार कष्ट सहकर आता है। महीनोंकी यात्रा, वन-वन भटकना, जहाँ-तहाँ पड़े रहना, नंगे पैर, आधे पेट खाकर, छाले पड़े, बिवाई भरे थके-माँदे सहस्र-सहस्त्र यात्री आते हैं—देशके कोने-कोनेके तीर्थयात्री—

पर्वस्थान तो मार्गकी राजसेवक संक्रान्तिसे ही यह पता लगानेमें व्यस्त हैं।

× × ×

[४]

'सम्राट् हर्षवर्द्धनकी जय !' राजसेवकोंके लिए यात्रियोंका नियन्त्रण इतना कठिन अमावास्याके स्नानपर्वपर भी नहीं था। सहस्र-सहस्र यात्री एक ही राजपथके दोनों ओर एकत्र हो गये हैं। अपार जनसमूह एकत्र होता जा रहा है। पुष्पोंकी वर्षाने मार्गको आच्छादित कर दिया है। जनता अपने सम्राट्के दर्शन करना चाहती है।

सम्राट्—स्थाण्वीश्वरका आधिदेवता—विश्वने किसी सम्राट्का यह अद्भुत वेश नहीं देखा होगा। सम्राट्के पास अपना रथ तक नहीं है। अपनी बहिन राज्यश्रीके रथपर खुले केश, वस्त्राभूषणहीन, कटिमें फटा चिथड़ा लपेटे दोनों हाथ जोड़े जो तेजोमय गौरवर्ण सुपुष्टकाय भव्यमूर्ति अपने दीर्घदृगोंमें जल भरे विनम्र खड़ी है—प्रान्त-देशमें धनुष और त्रोण पड़े न भी हों तो भी वह सम्राट् है, यह भ्रम भला किसे हो सकता है। इतना उदार, इतना महान् सम्राट्—उसकी कटिका चिथड़ा त्रिभुवनकी विभूति उस चिथड़ेको देखकर लज्जासे मुख छिपा लेगी। यह सम्राट्—जन-जनके हृदयका यह अधिदेवता—यह धनुष और त्रोण रक्खे या न रक्खे,

त्रिभुवनकी विजयश्री तो स्वतः इसके चरणोंमें प्रणत होकर कृतार्थ होगी।

'सम्राट् हर्षवर्धनकी जय !' राजरथ प्रयागकी पुण्यतीर्थभू सीमासे पार हुआ और सम्मुख आती रथोंकी पंक्तिमें-से एक रथ आगे बढ़ आया।

'मेरे मान्य बन्धु !' दक्षिणापथसे प्रख्यात पराक्रमी शाशक पुलकेशीने रथसे कूदकर प्रणिपात करना चाहा ; किंतु हर्षकी स्फूर्तिको दूसरा कोई कहाँ पा सकता है, सम्राट्ने अपनी भुजाओंमें भर लिया उन्हें।

'यह भारतके सम्राट्का रथ है।' पुलकेशीका रथ सारथिने संकेत पाते ही आगे बढ़ा दिया। 'सम्राट्ने मुझे छोटे भाई का गौरव दिया है और अब छोटे भाईको उनका स्वत्व देनेकी वारी है। सर्वस्वदान पूरा हो जाना चाहिए।' हँसते हुए पुलकेशीने दोनों हाथ फैला दिये वह चिथड़ा लेनेके लिए, जिसे हर्षने अपनी कटिमें लपेट रक्खा था।

'आप जो उपहार चाहें, वह पहलेसे आपके हैं।' सम्राट्ने बड़ी उदारतासे कहा। 'हर्षके पास ऐसा कोई अधिकार नहीं जो दक्षिणापथके शासकको न दिया जा सके।'

'परंतु दक्षिणापथके शासक अपने सम्राट्को इस वेशमें और दो क्षण नहीं देख सकेगा। उसके उपहार स्वीकृत न हों ऐसा कोई अपराध उसने नहीं किया है।' पुलकेशीके सारथिने रत्नजटित वस्त्र सम्राट्के चरणोंमें रख दिये—'बड़े

भाईके अधिकार छोटे भाईके अपने ही हैं। इस समय तो पुलकेशीको बड़े भाईका यह प्रसाद चाहिए जो उसके कुलमें सुरक्षित रहे और यह बतावे कि हर्षने अपने छोटे भाईको इस गौरबके योग्य समझा।'

सेवकोंने वस्त्रोंका आवरण किया, पुलकेशीने अपने हाथों सम्राट्को सजाया और जब सम्राट् रथपर बैठ गये उनकी कटिसे छूटा चिथड़ा उठाकर उस दक्षिणापथके शासकने अपने कंधेपर डाल लिया।

'यह आप क्या कर रहे हैं?' बड़े संकोचसे हर्षने रोकना चाहा।

'सम्राट्का सर्वस्वदान सम्पूर्ण हो गया और उसका सबसे मूल्यवान् भाग पुलकेशीने प्राप्त किया।' दक्षिणापथके शासकने प्रसन्नतासे दाहिना हाथ उठाकर जयनाद किया– 'सम्राट् हर्षवर्द्धनकी जय!'

आत्मदान

विद्याधराधिप जीमूतकेतुके कुमार जीमूतवाहन परिभ्रमण करने निकले थे। उस दिन अमरावतीकी ओर न जाकर उन्होंने दूसरी दिशा अपनायी। उत्ताल तरङ्गोंसे क्रीड़ा करता अमित विस्तीर्ण नीलोदधि उनको सदा ही परमाकर्षक प्रतीत हुआ है। सृष्टिमें अनन्तके तीन ही प्रतीक हैं—उदधि, आकाश और उत्तुङ्ग हिमगिरि। इनमें भी आकाश नित्य दृश्य होनेसे कदाचित् ही किसीके मनमें कोई प्रेरणा दे पाता है; किंतु उत्ताल तरङ्गमान सागर तथा हिमाच्छादित उत्तुङ्ग शृङ्गके समीप पहुँचकर प्राणी अपनी अल्पताका अनुभव सहज कर पाता है। उसका अहंकार शिथिल हो जाता है वहाँ।

जीमूतवाहन चले जा रहे थे आकाशमार्गसे। अकस्मात् उनकी दृष्टि रमणक द्वीपपर पड़ी। सुविस्तीर्ण वह मनोहर द्वीप और उसमें क्रीड़ा करते नागकुमार; किंतु विद्याधर राजकुमारके लिए इसमें कोई आकर्षण नहीं था। उन्हें चौंकाया था एक विचित्र दृश्यने। द्वीपके बहिर्भागमें पर्याप्त दूर एक अन्तरीप चला गया था और सागरगर्भमें और उसके लगभग छोरपर एक उज्जवल शिखर दीख रहा था।

'रमणकपर तो कोई उच्च पर्वत नहीं है। यह हिम-शिखर यहाँ और इतना उज्ज्वल! अपने मूलभागसे ऊपरतक उज्ज्वल यह पर्वत! इस नागालयके निवासियोंने यहाँ कोई रजतगिरि बनाया है!' जितना ही ध्यानसे उसे देखा, जिज्ञासा उतनी बढ़ती गयी। जीमूतवाहन उतर पड़े वहाँ।

'हे भगवान्!' कोई भी उस दृश्यको देखकर विह्वल हो उठता और जीमूतवाहन तो अत्यन्त सदय पुरुष थे। वे स्तम्भित, चकित, भयातुर स्तब्ध खड़े रह गये। वहाँ कोई पर्वत नहीं था। वह पर्वताकार दीखता अस्थि-पञ्जरोंका अकल्पित अम्बार था वहाँ अखण्ड कङ्काल और उनमें मेद, मांस, स्नायुका लेश नहीं। जैसे किसीने सावधानीसे स्वच्छ करके वे सहस्र-सहस्र कङ्काल वहाँ एक क्रमसे सजाये हैं।

'क्या है यह? क्यों हैं ये अस्थियाँ यहाँ?' उस अस्थिपर्वतके ऊपरी भागके कङ्काल ऐसे लगते थे जैसे उन्हें अभी कुछ सप्ताह पूर्व ही वहाँ रक्खा गया है। लेकिन पूछें किससे? उस अशुभ स्थानके आसपास कोई प्राणी नहीं था। लगभग पूरा अन्तरीप नीरव निर्जन पड़ा था।

रमणक द्वीप नागालय है। असंख्य नाग निवास करते हैं वहाँ। अनेक सिरधारी भयङ्कर विषधर नागोंकी वह भूमि—उसपर दूसरे प्राणी न पाये जायँ यह स्वाभाविक था। पशु-पक्षी वहाँ सकुशल रह नहीं सकते और समुद्रा-

वेष्टित उस पाषाणभूमिमें क्षुद्र पिपीलिकादिका प्रवेश नहीं। लेकिन रमणकद्वीप नाग-निवास है, सर्पावास नहीं। वहाँ पृथ्वीके साधारण सर्प पहूँच नहीं सकते। जन्मसिद्ध इच्छानुरूप रूप धारण करनेवाली उपदेव जाति नाग वहाँ रहती है। उसके नगर हैं, भवन हैं, समाज व्यवस्था है। नागपुरुष विषधर, सहज सर्पशरीरी हैं, यदि वे अपनी सिद्धिका उपयोग करके कोई अन्य रूप धारण न किये हों।

जीमूतवाहन उस अन्तरीपसे द्वीपके मध्यभागकी ओर बढ़े। उन विद्याधरके लिए नागजातिसे कोई भय नहीं। यह उपदेव जाति तो मित्र है उनके पिताकी और शत्रु भी होती तो उनका सिद्धदेह विषयसे प्रभावित होनेवाला तो नहीं है।

'क्या है वहाँ अन्तरीपके अन्तिम भागमें?' जो पहला नाग मिला, उससे ही जीमूतवाहनने पूछ लिया।

'वहाँ?' नाग-तरुणने एक बार दृष्टि उधर उठायी और उसके नेत्र भर आए। उसका मुख कान्तिहीन हो गया। उसने बड़े खिन्न स्वरमें कहा—'हममें कोई उस अशुभ स्थानकी चर्चा नहीं करता। उस ओर मुख करनेसे भी हम बचते रहते हैं। लेकिन उसका आतङ्क हममें-से सबके सिरपर सदा रहता है।'

'ऐसी क्या बात है वहाँ?' जीमूतवाहनने अपना परिचय नहीं दिया; किंतु वे इस द्वीपके अतिथि हैं, यह उन्होंने सूचित कर दिया।

'आज पूर्णिमा है। स्वर्णवर्णा मृत्युपक्षी आज वहाँ उतरेगा और एक नागके शरीरका अस्थिपञ्जर उस पर्वत-पर और बढ़ जायगा।' उस नाग-तरुणने व्यथित स्वरमें बतलाया। 'आजके दिन आप उस ओर जानेकी भूल न करें।'

'स्वर्णवर्णा मृत्युपक्षी !' जीमूतवाहन कुछ सोचते खड़े रहे। अब उन्हें स्मरण आया कि इस द्वीपमें कहीं उन्होंने पीतरंग नहीं देखा है। वस्त्र, भित्तियाँ तथा अन्य सब स्थान इस रंगसे रहित हैं। पूरे द्वीपमें जैसे पीले रंगको अशुभ मानकर बहिष्कृत कर दिया गया है।

'स्वर्णवर्णा मृत्युपक्षी क्या?' अब भी कोई बात समझमें नहीं आयी थी। मस्तक उठाया तो वह नाग-तरुण जा चुका था। किसी वृद्ध नागसे ही यह पहेली सुलझ सकती है।

'विनताका पुत्र गरुड़ है हमारा आतङ्क। प्रत्येक पर्वपर उसके लिए बहुत-सी खाद्यसामग्री लेकर किसी-न-किसी-को अन्तरीपके अन्तमें स्थित उस महावृक्षके समीप जाना पड़ता है। वह वैनतेय सामग्रीके साथ उसको लानेवालेको भी उदरस्थ कर लेता है। प्रहरभर पश्चात् वह अस्थि-राशिके ऊपर उसके कङ्कालको उगलकर उड़ जाता है।' बड़ी कठिनाईसे वृद्ध नागने रुक-रुककर क्रोध, क्षोभ तथा पीड़ाके स्वरमें यह बतलाया।

'आपलोग यह सब क्यों करते हैं?' जीमूतवाहनने पूछा।

'अपनी जातिको समूल नष्ट होनेसे बचानेके लिए।' वृद्ध बोल रहा था। 'गरुड़ अमर है। वह निखिल सृष्टिके नायक श्रीनारायणका अनुग्रहभाजन, उनका वाहन है। समस्त सुर-असुर एक साथ होकर भी समरमें उससे पराभव ही पायेंगे। उसका रोषभाजन बनना स्वीकार करे, ऐसा सृष्टिमें कोई नहीं। वह पहले संख्याहीन नागों-का स्वेच्छा-विनाश करता था। यह तो हमारे उस वंश-शत्रुकी उदारता ही है कि पर्वपर केवल एक बलिका बचन लेकर उसने हमारी जातिको जीवित छोड़ रक्खा है।'

'वैनतेय श्रद्धा-सम्मान-भाजन हैं समस्त प्राणियोंके—यह तो सत्य है।' जीमूतवाहनने स्वीकार किया। 'श्रीहरि-के उन प्रमुख पार्षदकी अवमानना कोई सदाशय करना नहीं चाहेगा।'

'हम सब अपनी आदि माताके सहज सपत्नी-द्वेषका दण्ड भोग रहे हैं। इसमें गरुड़को दोष कैसे दिया जा सकता है?' वृद्धने कहा। 'केवल शथैकशीर्षा कालियने एक बार साहस किया था। व्यर्थ था उसका औद्धत्य। विनतानन्दनके वामपक्षका एक आघात ही बड़े कष्टसे वह सह सका। कालिन्दीके सौभरिप्रशप्त ह्रदमें शरण न ली होती उसने तो उसका वंश उसी दिन नष्ट हो गया था। लेकिन श्रीकृष्णकी कृपा—उनके चरणचिह्नोंसे अङ्कित मस्तक, वह अब गरुड़से निर्भय हो गया है। आज पर्वका दिन है। उन हिरण्यवर्णके गगनसे अवतरण-कालमें द्वीपपर स्वच्छन्द घमता केवल कालिय देखा जा

सकता है । यद्यपि गरुड़ने अपने आश्वासनको भंग कभी नहीं किया ; किंतु हममें किसीका साहस उनको दूरसे देखनेका भी नहीं है ।'

'अतीतमें कुछ भी हुआ, अब इसे विरमित होना चाहिए ।' जीमूतवाहन जैसे अपने-अपने कुछ कह रहे हों, ऐसे बोल रहे थे । 'नागमाता कद्रूने देवी विनताके साथ छल किया । माताके अनुरोधपर नाग भगवान् सूर्यके रथाश्वोंकी पूँछमें लिपट गये । दूरसे अश्वोंकी श्वेत पूँछ श्याम जान पड़ी । देवी विनता अपने वचनों—स्पर्धाके नियममें पराजित होकर पुत्रके साथ नागमाताकी दासी हो गयीं । माता तथा स्वयंको इस दास्यभावसे मुक्त करनेके लिए अमृत-हरण करनेमें वैनतेयको जो श्रम करना पड़ा, सुरोंसे जो उनके सम्मान-भाजन थे, संग्राम करना पड़ा और दास्यकालमें नागोंने उनको वाहन बनाकर उनका तथा उनकी माताका बार बार तिरस्कार करके जो अपराध किया, उससे नागोंपर उनका रोष सहज स्वाभाविक था ।'

'हम गरुड़को दोष नहीं देते ।' वृद्ध नागने दुःख-भरे स्वरमें कहा । 'गरुड़ अन्न अथवा फलका आहार करनेवाला प्राणी तो है नहीं । उसे जब जीवाहार ही करना है, सृष्टिके प्रतिपालकसे अपने शत्रुओंको आहारके रूपमें प्राप्त करनेका वरदान लिया उसने । हम तो अपने पूर्वपुरुषोंके अपकर्मका प्रायश्चित्त कर रहे हैं । अनन्त कालतकके लिए यह प्रायश्चित्त हमारी जातिके सिर आ पड़ा है ।'

'ऐसा नहीं। संतानोंको सदा-सदाके लिए पूर्वपुरुषों-के अपराधका दण्डभाजन बनाये रक्खा जाय, यह उचित तो नहीं है।' जीमूतवाहनने गम्भीर स्वरमें कहा। 'गरुड़ इतने निष्ठुर नहीं हो सकते। वे यज्ञेशवाहन—मुझे उनकी उदारतापर विश्वास है।'

'हतभाग्य नागोंके अतिरिक्त बिश्वमें सबके लिए वे उदार हैं।' वृद्ध नागने दीर्घ श्वास ली।

'आज पर्व-दिन है। किसको जाना है आज गरुड़की बलि बनकर?' जीमूतवाहनने कुछ क्षण सोचकर पूछा।

'द्वीपमें उस आवासमें आज क्रन्दनका अविराम स्वर उठ रहा है।' वृद्धको यह बतलानेमें बहुत क्लेश हुआ। वह वहाँसे एक ओर चला गया। लेकिन उसने जो बता दिया था, उस संकेतसे उस अभिशापग्रस्त आवासको ढूंढ़ लेना कठिन नहीं था।

'बेटा! तुम युवक हो। अभी तुम्हारे आमोद-प्रमोदके दिन हैं। तुम मुझे जाने दो। इस वृद्धके बिना भी तुम इस परिवारका पालन कर सकते हो।' एक वृद्ध नाग उस परिवारमें रोते-रोते पुत्रसे अनुनय कर रहा था।

'मैं जाऊँगी। मेरे न रहनेसे परिवारकी कोई हानि नहीं। अब मैं आपकी संतानोंकी रक्षामें शरीर देकर धन्य बनूं, इतनी अनुमति दे।' वृद्धा नागिनने नेत्र पोंछ लिये।

'मातः! गुरुड़को नारी-बलि कभी भेजी नहीं गयी। कोई नाग-परिवार इतना कापुरुष नहीं निकला अबतक कि किसी नारीको मृत्युके मुखमें भेजकर अपनी रक्षा

करना चाहे। गरुड़को भी ऐसी वलि कदाचित् ही स्वीकार होगी। उन्होंने यदि इसे अपनी प्रवञ्चना अथवा अपमान माना तो सम्पूर्ण जाति विपत्तिमें पड़ जायगी। पिताकी सेवामें पुत्रका शरीर लगे, यह पुत्रका परम सौभाग्य आज मुझे मिल रहा है। मैं इसे नहीं छोड़ूंगा।' युवक नागमें कोई व्याकुलता नहीं थी। पूरे परिवारमे वही स्थिर, धीर दीख रहा था।

'यह अवसर आप सब आज मुझे देंगे।' अचानक उस आवासमें पहुँचकर जीमूतवाहनने सबको चौंका दिया।

'आप? आप कोई हों, हमारे अतिथि हैं।' पूरा परिवार एक साथ सम्मानमें उठ खड़ा हुआ। 'दयाधाम! आप हमारी परीक्षा न लें। यह तो हमारी पारिवारिक समस्या है।'

'मुझे आपका कोई सत्कार स्वीकार नहीं। मैं अतिथि हूं और आपसे गरुड़के पास उनकी बलिसामग्री ले जानेका अवसर माँगने आया हूँ।' जीमूतवाहनके स्वरमें दृढ़ निश्चय था। 'आप मुझे निराश करेंगे तो भी मैं वहाँ जाऊँगा। आप मुझे रोक नहीं सकते।'

'अतिथिकी ऐसी मांग कैसे स्वीकार की जा सकती है?' बड़े धर्मसंकटमें पड़ गया वह नाग-परिवार। जीमूतवाहन आसनतक स्वीकार नहीं कर रहे थे। अन्तमें उनका आग्रह विजयी हुआ। वे जायँगे ही, वह जानकर अत्यन्त अनिच्छा होनेपर भी नाग-परिवारको उनकी बात

माननी पड़ी। यद्यपि वह युवक जीमूतवाहनके साथ उस अन्तरीपके अन्तिम छोरतक गया। रमणक द्वीपमें आज पहली बार एक साथ दो व्यक्ति उस बलिस्थानतक पहुँचे थे। जीमूतवाहनने बहुत आग्रह करके किसी प्रकार युवकको लौटा दिया।

आकाशमें गरुड़के पक्षोंसे उठता सामवेदकी ऋचाओं-का संगीत गूँजा और उन तेजोमयका स्वर्णिम प्रकाश दिशाओंमें फैल गया। सम्पूर्ण धरा और सागरका जल जैसे स्वर्णद्रवसे आर्द्र हो उठा। उच्च अस्थिराशि स्वर्ण-वर्णा बन गयी। जीमूतवाहन इस छटाको मुग्ध नेत्रोंसे देख रहे थे। भय-कम्पका उनमें लेश नहीं था।

एक बार प्रचण्ड वायुसे सागर क्षुब्ध हुआ और तब गरुड़ उतर आये महातरुके समीप अन्तरीपपर। उन्होंने बलि-सामग्री प्रथम भोजन करना प्रारम्भ किया। उन्हें भी आश्चर्य था—'नाग मानवाकारमें आया, यह तो उसकी सिद्धि और इच्छा; किंतु यह है कैसा? यह न रोता है, न भयभीत है और न व्याकुल ही दीखता है।'

क्षुधातुर गरुड़के समीप अधिक विचार करनेका अवकाश नहीं था। बलि-सामग्री शीघ्र समाप्त करके उन्होंने जीमूतवाहनको समूचा निगल लिया और उड़कर अस्थि-पर्वतके ऊपर बैठ गये। भोजनके पश्चात् वे विश्राम करके नागदेहका कङ्काल उगलकर तब जाया करते हैं।

'महाभाग! तुम कौन हो?' गरुड़ने बड़ी व्याकुलता अनुभव की। उन्होंने कण्ठ इधर-उधर घुमाया। अस्थि-

समूहसे उड़कर नीचे आये। लगता था कि उन्होंने कोई तप्त लौह निगल लिया है। जीमूतवाहनको उन्होंने झटपट उगल दिया और पूछा—'तुम नाग नहीं हो सकते। तपस्वी ब्राह्मण अथवा भगवद्भक्त, जीव-दया-सम्पन्न पुरुष ही अपने तेजसे मेरे भीतर ऐसी ज्वाला उत्पन्न कर सकता है। अनजानमें हुआ मेरा अपराध क्षमा करो ! मैं तुम्हारा क्या प्रिय कार्य करूँ ?'

जीमूतवाहनका सर्वाङ्ग गरुड़के जठर-द्रवसे लथपथ हो रहा था। उनके शरीरमें कई खरोंचें थी ; किंतु वे अविचलित, स्थिर शान्त स्वरमें बोले—'आप परम पुरुष-के कृपाभाजन, परम कारुणीक यदि इस क्षुद्र बिद्याधर-पर प्रसन्न हैं तो आजसे इस नागद्वीपके निवासियोंको अभय दें।

'महाभागवत, दयाधर्मके धनी जीमूतवाहन !' गरुड़-ने अब उन्हें पहचान लिया था। 'तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो। तुम्हें प्रसन्न करके तो मैं अपने आराध्यका प्रसाद प्राप्त करूँगा। तुम निश्चिन्त बनो ! अब इस द्वीपपर गरुड़ नहीं उतरेगा।'

बैनतेय गरुड़ ही नहीं, कोई सर्पाहारी गरुड़ पक्षी भी उस द्वीपपर फिर कभी नहीं उतरा।

[महाकबि अश्वघोषके 'नागानन्द'के किञ्चित् आधारपर]

संयम

'आपको क्या हो गया है ?' मुझे बहुत संकोच हो रहा था। जो पूरे दो वर्ष पड़ोसमें रहे, उन्हें मैं पहचान नहीं सका था और जब उन्होंने अपना नाम भूमिपर मिट्टीमें लिखा, तब मैं जैसे चौंक पड़ा।

मेरे प्रश्नके उत्तरमें उन्होंने ललाटपर इस ढंगसे हाथ पटका जैसे कहते हों—'भाग्य फूट गया !'

वे मौन थे। मैं उन्हें कमरेमें ले गया और एक कुर्सी खींची बैठनेको ; किंतु उन्होंने संकेत किया कि वे कुर्सीपर नहीं बैठेंगे। भूमिपर ही चटाई डालनी पड़ी।

कुछ मिनटोंमें पता लग गया कि उन्होंने चीनी, नमक और गोरसमात्र (घी, दूध, दही, मक्खन—सब) छोड़ रक्खा है। तेल, मिर्च, खटाई भी वर्जित है। रूखी रोटी और बिना नमककी दाल तथा उबाला हुआ शाक उनके लिए बनानेकी व्यवस्था मुझे पहले करनी पड़ी।'

आप उनका परिचय जानना चाहेंगे। वे मेरे पड़ोसी थे, यह बता चुका हूँ। पहलवान थे, मुहल्लेके युवकोंको व्यायाम करवाते थे। मुहल्लेमें उनका आदर भी था, आतंक भी।

दूध, रवड़ी, मलाई—पहलवानोंके समान उनके भी ये प्रिय आहार थे और नंगे शरीर अथवा मलमलका पतला कुर्ता ही उन्हें भी प्रिय था। धूलि-धूसर देह पहलवानकी शोभा है और जब स्नान किये हों, अलकों-से तेल-जैसे टपका पड़ता हो।

पता नहीं क्या बात हुई कि मुहल्लेके ये 'उस्तादजी' सहसा बिना किसीको कुछ बताये कहीं चले गये और आज पूरे दो वर्षके बाद लौटे हैं तो मैं इन्हें पहचान ही नहीं सका।

दुबला-सूखा शरीर, बड़ी-बड़ी जटाएँ, बिवाइयोंसे भरे पैर, कमरमें लिपटा मैला-सा कपड़ा, कंधेपर झोली, हाथमें बड़ा भारी लोटा और एक लकड़ी, मेरे सामने जो रामानन्दी तिलक लगाये वैष्णव साधु चटाईपर बैठे हैं, वे इस मुहल्लेके सम्मान्य 'उस्तादजी' हैं, यह उनके व्यायाम सिखाये युवक भी आज नहीं कह सकेंगे, इसका मुझे भरोसा है।

घरमें कोई था नहीं। वृद्धा माताकी गङ्गायात्रा हो चुकी थी साधु होनेके एक वर्ष पूर्व। 'उस्तादजी' यहाँसे कहीं चले गये तो कोई विशेष बेचैन होनेवाला नहीं था। भला आदमी अपने मकानका किवाड़तक बंद नहीं कर गया था। कई दिन उसमें कुत्ते और पशु रात्रि व्यतीत करते रहे। जो जिसके हाथ लगा, दूसरोंकी दृष्टि बचाकर उठा ले गया और लगभग सप्ताह भर पीछे उस्तादजीके ही एक शिष्यने उनके मकानपर अधिकार

कर लिया। उसे रोकनेवाला कोई नहीं था। उससे झगड़नेका साहस भी किसीमें नहीं था।

अब समझमें आया कि 'उस्तादजी' को सचमुच वैराग्य हुआ था। साधु होना तो फिर घर और सामग्रीकी क्या सम्हाल। संसारकी वस्तु संसारके पास छोड़कर चले गये!

× × ×

'गये थे चौबेजी छब्बे होने दूबे रह गये।' चटाईपर जब मैं भी बैठ गया और मैंने स्लेट-पेन्सिल उन्हें दे दी, तब लिखकर उन्होंने अपना पिछला हाल बताना प्रारम्भ किया।

'बड़ा वैराग्य था मनमें और बड़ी श्रद्धा थी साधुओंके प्रति।' वे लिखते-मिटाते जा रहे थे—'दीक्षा लेनेके गिने-चुने दिन बीतते-न-बीतते जमातके साथ रमताराम हो गया और फिर जैसा संग, वैसा रंग!

'आपपर साधुताका रंग तो गहरा चढ़ा है।' मैंने कहा।

'यह तो उसका प्रायश्चित है।' उन्होंने लिखा दिनभर गाँजे-चरसकी चिलम चढ़ी रहती थी। प्रातः प्रतिदिन माल घुटते थे। वैसी गंदी गालियाँ मेरे मुखसे यहाँ भी कभी नहीं निकलीं, जैसी वहाँ धड़ल्लेसे बकी जाती थीं। भजनकी चर्चा कोई करे तो उसकी खिल्ली उड़ती थी।

किसीपर चिमटा फटकार देना या लोटा पटक देना कोई अनोखी घटना नहीं थी।

'जो लोग ऐसा नहीं करते थे वे, बगुला जैसे मछली-की ताकमें ध्यानस्थ रहता है और अवसर पाते ही शिकार कर लेता है, दम्भसे साधुके वेशमें रहते हुए ही नित्य निरन्तर विषय-सेवनका अवसर ढूंढ़ा करते और मौका पाते ही उसमें डूब जाते थे।

'आप सह लेते थे यह सब ?' यहाँ रहते भी उस्ताद-जी अपने युवकोंका तनिक भी अटपटा व्यवहार नहीं सह पाते थे। अपनी शिष्टता और नम्रताके लिए वे प्रसिद्ध थे।

'कर लेता था कहो! उनके मुखपर खेदके भाव स्पष्ट आ गये—'वहाँ भी डटकर दंड-बैठक करता था और यह सब ऊधम भी। दूसरा काम भी क्या था। फिर वहाँ सब तो एक-जैसे थे। दूसरोंकी निन्दा और अनर्गल बातचीतके अतिरिक्त हम करते भी क्या। अवश्य ही कोई मुझसे उलझनेका साहस नहीं करता था। मुझे किसीका चिमटा नहीं सहना पड़ा।'

'किंतु अब तो आप एक आदर्श साधु तो हैं।' मैं यह जाननेको उत्सुक था कि यह परिवर्तन कैसे हुआ।

'यदि वेशधारियोंमें कुछ सच्चे संत न होते, तो यह सब कबका मिट चुका होता।' वे लिखते गये—'कुछ बहुत उच्चकोटिके संत और कुछ अच्छे भजनानन्दी साधक भी प्रायः सभी स्थानोंमें होते हैं। उन्हींके भजनका प्रताप

है कि दूसरे वेशधारी भी पूजे जाते हैं और उनका यह सब चलता रहता है। गिने-चुने रत्नोंके लिए पूरी खदानकी मिट्टी-कंकड़को सुरक्षित रखना ही पड़ता है।'

मैं चुप रहा, क्योंकि यह स्पष्ट हो गया था कि इनको भी कोई रत्न मिल गया। सुना है कि स्पर्शमणि (पारस) सोना बना देता है लोहेको स्पर्शमात्रसे। भगवान् जाने यह बात सच है या झूठ; किंतु महापुरुष तो वे पारस हैं जो अपने स्पर्शसे दूसरेको पारस ही बना देते हैं।

'हमारी जमातमें एक वृद्ध महात्मा थे। हम सब उनका सम्मान करते थे; किंतु रहते उनसे दूर-दूर ही थे।' उन्होंने लिखा—'एक दिन उन्होंने मुझे बुलाया और बड़े प्रेमसे तुलसीदल दिया।'

'तुम यही सब करने साधु हुए हो? यह सब तो इससे बहुत अधिक घरपर कर सकते थे!' स्नेहपूर्वक ही उन्होंने कहा—'यह देह कीड़े-कछुए या पक्षी खा जायँगे एक दिन। साधु हुए हो तो रघुनाथजीका भजन करो।'

× × ×

उन वृद्ध साधुको अपने जप-पाठसे अवकाश नहीं था। इतने थोड़े-से क्षण भी उन्होंने अनुग्रहपूर्वक दिये थे। उन्होंने कुछ नहीं बताया था कि क्या करो, क्या मत करो किंतु महापुरुषका वह क्षणभरका सङ्ग, उनका उपदेश लग गया था। उस्तादजो वेश धारण करके भले न बदले

हों, उस दिन बदल गये। उसी दिन वे सचमुच साधु हो गये।

'जमात मैंने उसी दिन छोड़ दी।' उन्होंने लिखकर बताया—'मुझे किसीने कुछ बताया तो था नहीं, जो-जो मन में आया, वह नियम बना लिया और जितना बनता है 'राम-राम' करता हूँ।'

'यह संयम तो नहीं है। असंयमकी प्रतिक्रिया है यह।' इतनी देरमें मैं उनसे संकोचरहित हो गया था। इसलिए यह बात मेरे मुखसे निकल ही गयी।

'संयम क्या है भैया ?' उनके अक्षर स्लेटपर लिखे थे और नेत्रोंमें आग्रह उमड़ आया था। 'अब तुम्हीं यह बता दो। तुमने शास्त्र-पुराण पढ़े हैं और मुझे कुछ आता-जाता नहीं है, यह तुम जानते ही हो।'

'बहुत वाणीका असंयम हुआ तो उसकी प्रतिक्रिया सर्वथा मौन। बहुत जिह्वाका असंयम हुआ तो यह अलोना भोजन।' मैंने कहा—'किंतु भगवान् बुद्धने कहा है कि दोनों अतियोंसे बचकर चलना ही उत्तम मार्ग है। गीतामें भी 'युक्ताहारविहारस्य' की बात आयी है।'

'वाणीका संयम सत्य और अत्यावश्यक मितभाषण !' वे क्योंकि उत्सुकतापूर्वक सुन रहे थे, मैं कह गया—'जिह्वाका संयम सात्विक, हल्का एवं आवश्यकमात्र भोजन। आप साधु हैं, अतः दूसरे संयमोंकी चर्चा ही व्यर्थ है। वे तो आपके स्वभावसिद्ध हैं।'

'दूसरे संयम क्या ?' उन्होंने पूछा।

'नेत्र किसीको रोषसे, घृणासे, बुरी कामभरी दृष्टिसे न देखें और बंद भी न रक्खे जाँय। वे संतोंके, भगवन्मूर्तियोंके दर्शन करें और दूसरोंको भी स्नेह एवं पवित्र भावसे देखें। कान परनिन्दा न सुनें। वे भगवच्चर्चा सुनें। इसी प्रकार शरीरकी सभी इन्द्रियाँ न निष्क्रिय हों, न पापकर्ममें लगें। वे भगवत्सेवा, भगवच्चिन्तन-सम्बन्धी कार्य करें और मन भी संसारकी बात न सोचकर भगवान्‌की बात सोचे।'

'रघुनाथजी! अब आपके यहाँसे ही मेरा यह दम्भ समाप्त हो!' इस बार वे बोल उठे थे।

'आप दम्भ कहकर मुझे लज्जित क्यों करते हैं?' मैंने कहा—'मेरा सौभाग्य कि मुझे आपके तपके उद्यापनका सुअवसर मिला। अब आज्ञा दें तो जो नैवेद्य प्रस्तुत हो रहा है, उसमें किञ्चित् रामरसका योग कर दिया जाय और गोघृत तो उसे शुद्ध ही करेगा।'

'मुझे रघुनाथजीने ही तुम्हारे पास भेजा है।' वे बोले—'अब तुम जो उचित समझो करो; किंतु साधुको जिह्वा-लोलुप बनानेका पाप मत करना।'

सचमुच मुझे लगा कि यह पाप अनेक बार श्रद्धातिरेकके कारण अनजानमें हमसे होता है। उस दिन ऐसी कोई बात नहीं हुई और उस रमतेरामको दूसरे दिन भला रोक पानेमें कैसे समर्थ होता। वे तो सबेरे कब चले गये आसन समेटकर, यह भी मुझे पता नहीं लगा।

———

मूर्खता

'सबका मूल्य है।' नाम देना उत्तम नहीं ; क्योंकि वे मेरे मित्र हैं। किसीकी आलोचना नहीं कर रहे थे वे, सहज स्वभाववश अपने सरल विश्वासकी बात व्यक्त कर रहे थे। 'यह दूसरी बात कि किसीका मूल्य बहुत कम है और किसीका बहुत अधिक ; किंतु सबको क्रय किया जा सकता है!'

'यद्यपि यह अर्थप्रधान युग है, तथापि सम्पत्ति ही सब कुछ नहीं है।' मैंने प्रतिवाद किया। 'ऐसे लोगोंकी संख्या पर्याप्त अधिक है, जो किसी भी मूल्यपर क्रय नहीं किये जा सकते। अपने ही यहाँ.........'

'ऐसे कुछ ही अपवाद निकलेंगे।' बात यह है कि उनके सम्मुख कुछ नाम रख दिये गये थे और उन नामोंकी महत्ता अस्वीकार करनेका उपाय नहीं था।

'एक सीमातक अर्थ आवश्यक होता है।' मैंने स्पष्ट किया। 'मान लेनेमें कोई आपत्ति नहीं कि बहुत बड़ी सीमातक ; किंतु एक सीमातक ही। व्यक्तिके व्यक्तित्व-को वह तभी क्रय कर सकता है, जब व्यक्ति मूर्ख हो।

अपनेको मूर्ख बनाये बिना कोई अर्थके हाथों अपनेको सौंप नहीं सकता।'

'बड़े-बड़े विद्वान्, सुप्रख्यात साधु और महान् लेखक……' वे प्रसिद्ध नामोंकी पूरी पंक्ति बोल गये।

'मैंने कितने बीज चुने हैं!' बड़े उल्लाससे एक बच्ची पास आ गयी। उसकी मुट्ठीमें चिरमिटीके लाल-लाल चमकते सुन्दर बीज थे।

'चल खेल अभी!' बच्ची उन्हींकी थी, उन्होंने डाँट दिया। उसके भोले मुखपर उदासी आ गयी।

'बड़े सुन्दर बीज हैं तुम्हारे, मैं दो ले लूं?' मैंने उसे प्रसन्न करनेका प्रयत्न किया।

'नहीं।' मुट्ठी कसकर बाँध ली बच्चीने।

'तुम छोटे भैयाको ले आओ तो तुम्हें और बीज तोड़ दूंगा।' मैंने प्रलोभन दिया, क्योंकि मेरे मित्र उसे डाँटने जा रहे थे।

'पहले तोड़ दीजिये।' बच्चीके आग्रहमें बल नहीं था। बीज मिलते हों तो वह छोटे भाईको ले आयेगी। केवल तनिक पक्का आश्वासन अपेक्षित था। वह आश्वासन उसे मिल गया और वह दौड़ गयी छोटे भाईको ले आने।

'वह इसके केश नोचेगा, इससे झगड़ेगा और यह रो जायगी।' मैंने मित्रकी ओर देखा। बच्ची होनेपर भी

इस कन्याका अपने छोटे भाईसे इतना स्नेह है कि उसे मार नहीं पाती, उसके द्वारा पिटनेपर भी। माता-पिताका पुत्रपर अधिक प्यार है। बच्चा अकारण भी रो उठे तो बालिका डाँटी जायगी।

उसका अबोध हृदय इस भयको अनुभव करने लगा है। हो सकता है, इसी भयसे छोटे भाईका ऊधम वह सह लेती हो—'बीजोंका क्या करेगी यह ? ये बीज इसके क्या काम आयेंगे ?'

'थोड़ी देर खेलेगी, प्रसन्न होगी और फेंक देगी !' मित्रने साधारण ढंगसे कहा।

'उसका अवसर भी अब नहीं आना है।' बात सच थी, उसका छोटा भाई उसके पासके बीज भी छीन लेगा और झगड़ेगा ऊपरसे।

'बच्चोंमें इतनी समझ कहाँ होती है।' मित्रका ध्यान उस बातपर नहीं था, जो उन्होंने प्रारम्भ की थी।

'एक समय था, बहुत वर्षोंका लंबा समय था वह, जब मेरे पास कभी दो-चार दिन को दस रुपये होते थे।' मेरी बात विशेष नहीं लगनी चाहिए। भारतके अधिकांश ग्रामीणोंकी स्थिति यही है और भारतकी जन-संख्याका बड़ा भाग ग्रामोंमें रहता है। 'उन दिनों सनक थी—रुपया कैसे आये, इसके भाँति-भाँतिके उपाय सोचता रहता था। अपने आलस्यसे उनमें-से कोई काममें नहीं आ सका—यह दूसरी बात।'

'अच्छा, तो आप कहानी सुनाने लगे हैं।' मेरे मित्र समझते हैं कि कहानी लेखक सत्य भी कहे तो वह होती कहानी ही है।

'उन दिनों एक साधु मिल गये थे। वे कहते थे कि उन्हें स्वर्ण बनाना आता है।' मैंने मित्रका प्रतिवाद नहीं किया ; क्योंकि घटना सत्य हो या कल्पित—उसमें समर्थित सत्य है, तो घटनाके स्वरूपपर विवाद क्यों ?

'उन्होंने आपको कुछ सिखलाया ?' मेरे मित्रमें उत्कण्ठाका संचार हो गया। स्वर्ण घटित करनेकी प्रक्रियाके प्रति या कहानी सुननेके प्रति थी वह उत्कण्ठा—आप समझ लें। आप भी वह सब सुननेको उत्सुक होंगे।

× × ×

'आपने कभी स्वर्ण बनाया है ?' मैंने उस साधुसे पूछा था।

'कभी आवश्यकता नहीं पड़ी।' संक्षिप्त उत्तर था।

'अब बना देखें !' मैंने आग्रह किया।

'अब भी कोई आवश्यकता नहीं।' उन्होंने उपेक्षा कर दी।

'परीक्षणके लिए !'

'प्रक्रियामें मुझे पूरा विश्वास है और कुतूहल मुझे सदा अरुचिकर लगता है।' साधु तो साधु ठहरे।

'प्रक्रिया बता देनेकी कृपा करेंगे ?' मैंने प्रार्थना की।

'बताना न होता तो तुमसे चर्चा क्यों करता ?' साधु सीधे और स्पष्टवादी थे। 'किंतु इससे पूर्व तुम ठीक समझाओ कि स्वर्णका उपयोग क्या करोगे ?'

'आप हँसेंगे। मैं वह सब आपको नहीं सुनाऊँगा। सम्भव है आपने भी सम्पन्न हो जानेका कभी स्वप्न देखा हो। भवन कैसा बनवाना है, उसकी साज-सज्जा कैसी रखनी है, क्या-क्या उपकरण कहाँ-कहाँसे, किस प्रकारके मँगाने हैं—देखा है कभी आपने ऐसा स्वप्न ? देखा है तो आपसे कुछ कहना नहीं। आप मेरी बात समझ जायँगे। न देखा हो तो आपके सम्मुख मुझे अपनी हँसी कराना नहीं।'

साधु बड़े धैर्यसे सुनते रहे मेरी कल्पना। दो-ढाई घंटे पूरे वे सुनते ही नहीं रहे, मुझे प्रोत्साहित भी करते रहे। मेरे स्वप्नको बहत् करने और स्पष्ट करनेमें योग देते रहे।

'अब कल बातें करेंगे।' अन्तमें वे अपने आवश्यक कार्यसे उठ गये। आप समझ सकते हैं कि मैंने कितनी उत्सुकतासे उस 'कल' की प्रतीक्षा की होगी।

'तुम्हारा स्वप्न सत्य हो जायगा तब ? समझ लो कि सब कुछ हो गया।' साधुने दूसरे दिन स्वयं प्रारम्भ किया, यद्यपि मैं कम उत्सुक नहीं था प्रारम्भ करनेके लिए। उनके स्थानपर मैं समयसे कुछ पहले ही पहुँचकर प्रतीक्षा कर रहा था। मुझे लगता था कि आज उनका पूजा-पाठ पूरा भी होगा या नहीं।

'इस प्रकार रहना होगा। लोग इतना सम्मान करेंगे।' मैंने अपनी स्वप्न-कल्पनाको स्पष्ट करनेमें संकोच नहीं किया।

'एक दिन बीमार पड़ोगे!' साधु हँसे नहीं।

कौन-कौन डाक्टर आयेंगे, कैसे लोग देखने आया करेंगे, आदि इस सम्बन्धके स्वप्न भी सुना दिये मैंने।

'डाक्टर बहुत-से इञ्जेक्शन देगा! शरीर उठनेमें असमर्थ रहेगा।' अवश्य वे साधु भी पक्के कहानीकार होंगे। उन्होंने बड़ी भयानक बातें बतायीं—'नौकर मनमानी करेंगे। पड़े-पड़े चिड़चिड़ाते रहोगे।'

तिरस्कार, असमर्थता, हानि—इन सबका बड़ा भयानक वर्णन था साधुके शब्दोंमें। कठिनाई यह थी कि मैं उसे अस्वीकार नहीं कर सकता था। यदि मेरा स्वप्न सत्य होता है तो साधुकी कल्पनाके सत्य होनेकी सम्भावना ही अधिक थी।

प्रतिकूल स्वजनोंका तिरस्कार, अकृतज्ञ सेवकोंकी उपेक्षा, असमर्थता, रोग, हानि और बिना कुछ बोले कुढ़ते रहना; क्योंकि जो इतनी सम्पत्ति और प्रतिष्ठा पा लेगा, उसे अपने सम्मानको दूसरोंके सम्मुख तो सदा सँभालकर रखना होगा—कितनी भयंकर कल्पना थी।

जो लोग मेरे समान स्वप्न देखते हों, उन्हें अवश्य उस साधुसे मिल लेना चाहिए। वे स्वर्ण बनाना भी जानते हैं और पशुप्राय मनुष्यको समझाकर मनुष्य बनाना

भी । कठिनाई यही है कि मैं उनसे पच्चीस वर्ष पूर्व मिला था । वे गङ्गाकिनारे पर्यटन करनेवाले परिव्राजक थे । तीन दिन मेरे समीप रुके थे । कोई पता उनका मुझे ज्ञात नहीं ।

'अन्तमें मर जाओगे !' साधुने अपनी बात समाप्त की । अवश्य समवेदनाके बहुत तार आयेंगे । समाचार-पत्र बड़े-बड़े शीर्षक देंगे । बड़े समारोहसे अन्त्येष्टि होगी । भव्य समाधि बनेगी । मर-जानेवालेको इन सबसे क्या लाभ । उसे यमदूत नरककी यन्त्रणा देते होंगे—नरकका वर्णन सुना है तुमने ? सम्पत्तिके साथ भोग और तब नरक । बुरी बात है—बहुत बुरे स्थानपर तुम्हारा स्वप्न समाप्त होता है । अच्छा, अब कल ।'

मैं उस 'कल' भी गया । अवश्य मुझमें अब वह उत्साह नहीं रह गया था । साधुने कमण्डलु उठा लिया था और गीली कोपीन भी कंधेपर डाल ली थी । वे अब जानेवाले थे ।

'इस पुड़ियामें दो चावल पारद-भस्म है !' चलते-चलते उन्होंने कहा—'तुम इसे पिघलते ताम्रमें डाल दो तो स्वर्ण बन जायगा । ऐसी मूर्खता न करो तो अच्छा । इसकी खुराक एक चावल है । दमा या दूसरे किसी रोगसे मरणासन्न व्यक्तिको दे दोगे तो एक बार देनेसे ही वह कष्टसे पूरा छुटकारा पा जायगा ।'

साधु कहीं किसीके होते हैं । मुझे एक नन्ही पुड़िया देकर वे चले गये । उनका फिर कभी कोई पता नहीं

लगा। आप समझ सकते हैं कि मैंने उनका पता लगानेका कम प्रयत्न नहीं किया होगा—कोई लाभ नहीं हुआ।

× × ×

'आपने स्वर्ण बनाया ?' मेरे मित्रने पूछा और सम्भवतः आप भी यही पूछना चाहेंगे।

'प्रयत्न भी नहीं कर सका।' निराश होना पड़ा मित्रको—यह तो बहुत पीछे पता चला कि ताँबेको पिघला लेना सामान्यतः सरल नहीं है। सम्भवतः एक सप्ताह पश्चात् ही रेलकी यात्राके समय एक अपरिचित यात्रीको दमेका दौरा हुआ। बड़ी दारुण वेदना थी उसे। एक चावल भस्म मैंने दे दी। इसी प्रकार एक महिलाको यात्रामें हिस्टीरियाका दौरा हुआ और शेष भस्म दे दी गयी। तत्काल दोनोंको आशातीत लाभ हुआ था। दोनों अपरिचित थे, अतः पीछेकी बातका मुझे पता नहीं।'

'प्रारब्धमें नहीं था स्वर्ण आपके।' मित्र खिन्न हो उठे।

'साधुने एक वस्तु मुझे और दी थी।' मैंने उन्हें बताया; क्योंकि उन्हें खिन्न करनेको तो यह कथा मैंने सुनानी प्रारम्भ नहीं की थी।

'वह क्या ?' सोल्लास पूछा उन्होंने।

'विचारकी एक शैली।' मैंने उनकी उत्सुकतामें साथ नहीं दिया। 'सम्पत्ति और दूसरे साधनोंका मोह मूर्खता

है। उनका अन्तिम परिणाम तो दूर—उनके उपयोगकी ठीक स्थिति भी समझ ली जाय तो उनका मोह समाप्त हो जाय।'

'आपने जो नाम गिनाये और वैसे और भी लोग' मैं अपनी बात कह रहा था—'सब आपकी बच्चीके समान हैं—उनकी विद्या और प्रतिभा चाहे जितनी बड़ी हो। यह बच्ची ही कहाँ कम विद्वान् मानती है अपनेको। अपने अक्षरज्ञानका पर्याप्त गौरव है उसे। चिरमिटीके बीजोंमें उसका विचारहीन आकर्षण—ऐश्वर्यका सारा आकर्षण इससे उच्चकोटिका नहीं।'

'आपकी दार्शनिकता अपनी समझमें नहीं आती।' मित्र बोले।

'सीधी बात है।' मैं समझाना चाहता था। 'परमात्मा दयामय है, सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ है। उसकी अपार कृपापर विश्वास न भी हो तो हम सब प्रारब्धको तो मानते ही हैं।'

'प्रारब्ध नहीं था, इसीसे तो हाथमें आकर भी स्वर्ण बनानेकी विधि आप सीख नहीं सके।' मित्रका मन नहीं अटका था।

'मैंने यह सीखा कि शरीरमें आसक्ति भी सम्पत्तिकी तथा स्वजनोंकी आसक्तिके समान मूर्खता है।' अब मैं भी बात समाप्त कर देना चाहता था। 'शरीर रोगी होगा, असमर्थ होगा और अन्तमें साथ छोड़ देगा। शत्रुसे भी

व्यवहार स्वजनोंको करते सर्वत्र देखा जा सकता है। शरीरका सुख, इसका सम्मान और इसकी स्मृति सुरक्षित रखनेमें जो नरककी चिन्ता न करे, जो इन्हें अपना मान ले, उससे बड़ा मूर्ख कौन ?'

'अब दीजिये मुझे चिरमिटी !' बच्ची आ गयी थी। छोटे भाईको वह साथ लायी थी। अब मुझे चिरमिटी तोड़ने उठना था ; क्योंकि वह बच्चा भी मचल रहा था—'मुझे चिरमिटी दीजिये।'

'स्वधर्ममाराधनमच्युतस्य'

'कालू कल मर गया।' पण्डित दीनानाथ दोनों समय संध्या करनेवाले आचारनिष्ठ शुद्ध सनातनधर्मी ब्राह्मण हैं। वे आजके सुधारकोंसे सहानुभूति रखनेवाले नहीं, उनको 'कलियुगके अग्रदूत' कहनेवाले हैं; किंतु आज उनका स्वर अत्यन्त शिथिल है। उनका मुख उदास-उदास है। चिन्ता, शोक, वेदना—पता नहीं क्या-क्या है उनमें और आज सूर्योदयसे पूर्व ही वे जो घरसे निकलनेको विवश हुए हैं, यह विवशता क्या कम दुःखद है। अपने खेत-खलिहानसे निश्चित कर दिया था जिसने उन्हें, वह कालू तो कल मर गया। अब यह बेचारा ब्राह्मण—यह हलवाहा ढूंढ़ने निकला है तब, जब उसे स्नान करना है, संध्या करनेका समय समीप आ गया है।

'कालू मर गया?' पूछनेवालेको भी कालूसे सहानुभूति है। गाँवमें वैसे भी ऊँच नीचका भेद हृदयोंमें अन्तर नहीं डालता। अस्पृश्य वहाँ पराये नहीं हुआ करते। उनका प्रत्येक घरसे सम्बन्ध होता है। वे यदि पण्डितजीको 'भैया' कहते हैं तो पण्डितजीके बच्चे उन्हें 'चाचा' कहते हैं। यह सरल शुद्ध स्नेह गाँवका स्वभाव

है। फिर कालू—वह तो किसीके लिए पराया नहीं था। सबका अपना था, सबकी समयपर सहायता कर देनेवाला।

'तुम तो कल कचहरी गये थे, भैया?' पण्डित दीनानाथके नेत्र भर आये। 'कल दोपहरतक वह गाय-बैलोंकी सार-सम्हाल करता रहा। स्नान करने गया और तालाबमें स्नान करके देरतक नहीं लौटा। घरसे उसकी बिटिया पूछने आयी उसे, तो पता लगा कि घर भी नहीं गया।'

'डूब गया कालू?' पूछनेवाला चौंका—'वह तो तैरना जानता था।'

'मैं उसे पुकारता सरोवरकी ओर गया।' पण्डितजीने प्रश्नका उत्तर देना आवश्यक नहीं माना। वे कहते गये—'वहाँ कोई नहीं मिला। सब घाट सूने पड़े थे। उसके डूबनेका डर मुझे नहीं था। उधरसे मन्दिरकी ओर होकर लौटा। वह प्रतिदिनकी भाँति मन्दिरके चबूतरेके नीचे द्वारके सम्मुख दण्डवत् किये पृथ्वीपर पड़ा था। मैंने पुकारा और जब वह बोला नहीं, तब उसके पास जाकर उसे हिला देना चाहा। वह तो शङ्करजीके पास जा चुका था।'

'हृदय बंद हो गया उसका।' गाँवोंमें भी कुछ नये पढ़े-लिखे लोग तो हैं ही। वे सज्जन अपनी विद्वत्ता व्यक्त करने लगे—'यह रोग तो बड़ोंको ही होता है। परिश्रम करनेवाले ग्रामीणोंका हृदय तो सुदृढ़ होता है। कालूकी यह मृत्यु अद्भुत है।'

'वह धर्मात्मा था। उसकी मृत्यु चारपाईपर पड़े-पड़े कैसे होती।' पण्डित दीनानाथ-जैसे धार्मिक नियमनिष्ठका भी कालूके सम्बन्धमें यही निर्णय था कि वह धर्मात्मा था। वे कह रहे थे—'कल एकादशीके दिन भगवान् शङ्करको प्रणाम करते हुए उसने शरीर छोड़ा, वह तो सीधे भगवान्के धाम गया होगा।'

कालू चमार—अस्पृश्य ग्रामीण, जिसे अपना नाम लिखनातक नहीं आता था, जो न दोपहरसे पूर्व स्नान कर पाता था न कोई स्तुति जानता था। व्रत जिसने जाना नहीं, पूजनका जिसे अधिकार नहीं, मन्दिरके चबूतरेपर पैर रखनेकी जिसने कभी इच्छा नहीं की, वह 'कालू चमार धर्मात्मा था, वह सीधे भगवान्के धाम गया होगा'—गाँवके सबसे बड़े संस्कृतके विद्वान्, पक्के कर्मनिष्ठ पण्डित दीनानाथ यह कहते हैं। कालू उनका हलवाहा था, उनके घर हड्डीतोड़ परिश्रम करते वह बचपनसे बढ़ा था, कहीं पण्डितजी उसके साथ पक्षपात तो नहीं करते ?

कल एकादशी थी। कालू कभी व्रत नहीं करता था, किंतु मरा तो वह कल। सुना है एकादशीको मरनेवाला भगवान्के धाममें जाता है। ठीक स्मरण आया, कल शुक्लपक्षकी एकादशी थी। कालू लगभग दो पहर दिन चढ़े मरा और मरा भी कहाँ—ठीक भगवान् शङ्करके मन्दिरके सामने दण्डवत् करते। तब वह धर्मात्मा था, वह सीधे भगवान्के धाम गया होगा—यह बात संदेह

करनेयोग्य तो जान नहीं पड़ती ।

× × ×

'आज ईख बोनी थी । दो दिनसे गन्नोंके बोझ पानीमें पड़े हैं ।' पण्डित दीनानाथनें कहा । 'पता नहीं कालू किसे कह आया था । सबेरे किसे कहाँ ढूँढ़ूँ ?'

संसारका स्वभाव ही यही है । अपने सगे-सम्बन्धियों, स्त्री-पुत्रोंतकको जो शोक होता है, अपने लिए होता है । अपनी सुख-सुविधाके छिन जानेका ही दुःख होता है । पण्डित दीनानाथको भी इसी प्रकारका दुःख है । जब निश्चिन्त स्नान-संध्या करनी चाहिए, एक नियमनिष्ठ ब्राह्मणको चमारोंकी बस्तीमें जाना पड़ रहा है । आजकल हलवाहे मिलने कठिन ही हैं । सभी किसी-न-किसीका हल पकड़े हैं और गाँवमें जिनके भी खेत हैं, गन्ना तो उन सभीको बो देना ठहरा इन्हीं दस-पाँच दिनोंमें ।

कालू केवल हलवाहा नहीं था । वह पण्डितजीकी खेती और पशुओंका पूरा प्रबन्धक था । किसी दिन तो दूसरोंके समान पण्डितजीको प्रातः उसे पुकारना नहीं पड़ा । रात्रिके अन्तिम प्रहरमें आकाशमें शुक्र दिखायी पड़ा और कालू आ जाता पण्डितजीके यहाँ । बैलोंको खली-भूसा देता और उसका हल खेतमें पहुँच जाता सबसे पहिले ।

'कालू ! कल कौन-कौन आयेंगे ?' बोने, काटने आदिके समय अधिक मजदूर आवश्यक होते हैं। कालूको ही उनका प्रबन्ध करना था। पण्डितजी केवल पूछ लेते। उन्हें तो कालूसे ही पता लगता कि कल किधर हल जायगा'।

'तुम अपना बोझा उठा लो ?' फसल खलिहानमें आ गयी। सब काटनेवाले मजदूरोंको 'बन्नी' (मजदूरीके रूपमें फसलका ही कुछ भाग) दी जा चुकी। अपने हलवाहेका 'हक' है कि अपनी पसंदका एक पूरा बोझा वह अपने लिए चुन ले; किंतु कालू कुछ दूसरे ढंगका है। पण्डितजीका यही आदेश उसने कभी स्वीकार नहीं किया। उसका भी एक सिद्धान्त है—'स्वामी हाथ उठाकर जो दे दें, वही लाखका।' पण्डितजीको ही बताना पड़ेगा कि कालू कौन-सा बोझा ले जाय और ऐसे समय किसान कृपण नहीं हुआ करता।

कालूने कभी एक तिनका नहीं लिया। एक मुट्ठी अन्नपर उसकी नीयत नहीं डिगी। यह कहनेकी बात नहीं है। कालूकी सावधान दृष्टि सदा यह रही कि कोई और भी कहीं पण्डितजीके खेत-खलिहानमें हाथ न चला सके। पण्डितजी निश्चिन्त थे कालूके रहते और कालूको कभी पण्डितजीकी खेती परायी नहीं प्रतीत हुई। परिश्रमसे 'जी चुरानेवाले दूसरे हुआ करते हैं।'

'इनका क्या दे दें, कालू?' खेतीका काम कम अवकाश देता है; किंतु इधर कालूको अपनी कन्याके

हाथ पीले करनेकी चिन्ता हो गयी थी। वह मुँह खोल-कर माँगता तो पण्डितजी सौ-पचासके लिए जी छोटा करनेवाले नहीं थे; परंतु वह उनसे भी माँगना जो नहीं चाहता। अब रात्रिमें जूते बनाने लगा था। पण्डितजीके घरसे पहर रात गये लौटता और तब राँपी लेकर बैठ जाता। सात दिनमें भी एक जोड़ी बन जाय तो हर्ज क्या है। उसके गवाँरू जूते बूढ़े किसानोंको बड़े अच्छे लगते हैं। वे चलते खूब हैं और वह तो जूता दे जाता है। किसी-न-किसीके यहाँ रख जायगा।

'आप पहिनकर देख लें भैया!' कालूकी बँधी बात है। 'पैरमें ठीक आता है या नहीं? तनिक चलकर देख लें। ठीक आ जाय तो जो भैयाकी मर्जी दे देंगे, दाम कहीं भागे जाते हैं?' मोल-भाव कालू करता नहीं। गाँवके लोग पैसे देनेमें उदार नहीं होते। अन्न तो वे आधसेर अधिक दे देंगे; किंतु पैसा एक भी अधिक देना अखरता है उन्हें। यह स्वीकार करना ही होगा कि यदि कालू मोल-भाव करनेमें पटु होता तो उसे उससे कहीं अधिक मूल्य मिलता, जो अब वह पा जाता था।

हाँ, तो पण्डित दीनानाथजीका दुःख कालूके लिए कम, अपने लिए ही अधिक है। अब वे कहाँ हलवाहा ढूंढ़ें? कैसे गन्ना बोनेकी व्यवस्था करें? स्नान-संध्याका समय हो रहा है और कालूके कारण वे इधरसे तो वर्षोंसे अपरिचित रहे हैं। उन्हें तो कालूने जैसे बीचधारामें छोड़ दिया है। उनकी व्याकुलता—किंतु क्या संसारके

सभी स्वजनोंकी व्याकुलता इसी कोटिकी नहीं होती ? केवल पण्डितजीको क्यों दोष दिया जाय ।

'अब तो भैया, यह सब करना ही पड़ेगा !' लंबी साँस ली पण्डितजीने । 'कालू क्या गया, मेरा सगा भाई उठ गया ।' उनकी आँखोंमें आँसू आ गये ।

'बेटी, अब रोनेसे तो कुछ होता नहीं है । पण्डितजी सायंकाल कालूकी कन्या तथा उसकी पत्नीको आश्वासन दे रहे थे । 'कालू मेरा भाई था । उसके क्रिया-कर्ममें जो लगे, यहाँसे ले जानेमें संकोच मत करना ।

'चाचा !' रो रही थी बेचारी लड़की । मनुष्य रुदनके अतिरिक्त और कर क्या सकता है । मृत्युपर उसका बस कहाँ है । 'हमारे पास देनेको कुछ नहीं है । माँके साथ मैं भी आपके यहाँ मजदूरी करके..............'

'ऐसी बात मत कह, बेटी !' पण्डितजीने आँखें पोंछ लीं । 'कालू नहीं रहा तो क्या तेरा इस घरमें कुछ नहीं रह गया ।'

पण्डितजीनें क्या-क्या दिया, पता नहीं; किंतु जब वे माँ-बेटी उनके यहाँसे लौट रही थीं, तब उनके पास एक बड़ी गठरी थी अच्छे-से मोटे कपड़ेमें बँधी हुई ।

पण्डित दीनानाथजी बहुत दुःखी हैं । ब्राह्मण होकर कल वे एक चमारकी अर्थीके साथ गङ्गाकिनारे तक गये थे । आज सबेरे हलवाहे ढूढ़ने निकलकर भी चमरटोली-तक जा नहीं सके । वे मार्गसे ही लौट आये थे । उनके खेतोंमें आज हल नहीं चला । गाँवके वे सम्मानित

व्यक्ति हैं। वे सम्पन्न हैं और इधर कई गाँवोंमें उनके जैसा संस्कृतका पण्डित भी नहीं है। संध्या-पूजामें उनकी निष्ठाने गाँवोंमें उनके प्रति और श्रद्धा बढ़ा दी है। उन्हें इस दुःखमें आश्वासन देने उनके यहाँ शामको गाँवके बड़े-बूढ़े तथा और लोग भी आ गये हैं।

'बेचारी अनाथ हो गयी।' एकने सहज भावसे कह दिया दोनोंको जाते देखकर। वैसे चमारकी पत्नी और कन्याके लिए कोई विशेष चिन्ता नहीं थी उसे।

'सबके नाथ तो भगवान् हैं और वे इनको भला, कैसे भूल सकते हैं।' पण्डितजीकी दृष्टि अभी कन्याको आगे करके चली जाती रोती कालूकी पत्नीकी ओर ही थी। 'कालू धर्मात्मा था। भगवान्का सच्चा भक्त था। उसकी स्त्री और पुत्रीकी चिन्ता वे परमपालक कर लेंगे।'

'कालू धर्मात्मा था—भक्त था।' पण्डितजीकी यह बात कुछ जँचती नहीं थी। लोगोंको कल यह अखरा ही था कि उनके श्रद्धाभाजन पण्डितजी एक चमारकी अर्थीके साथ गये। लोग कालूकी प्रशंसा सुनने या करने नहीं आये थे। कालूसे उन्हें अब कोई काम नहीं था और चमारकी स्त्रीकी चिन्ता क्या, वह कल नहीं तो परसों किसी औरके पास बैठ जा सकती है। पण्डितजीकी यह प्रशंसा सुनकर लोगोंने परस्पर देखा एक दूसरेकी ओर—ये कितने भोले हैं।

'आप कोई चिन्ता न करें। आपके लिए अच्छा हलवाहा हम ढूंढ़ देंगे। हम मिलकर कल आपके गन्ने

दो देंगे। दूसरी सहायताके लिए भी हम सब सदा प्रस्तुत रहेंगे। आप स्वीकार करें तो···कलसे आपके यहाँ काम करने लगे। वह अभी युवक है। बलवान् है। काम करनेमें चतुर है और ईमानदार है। कालूके बिना आपका कोई काम अटकेगा नहीं।' लोग यह या ऐसी ही बातें करने-कहने आये थे। उनका सोचना ठीक ही था कि पण्डितजीका शोक अपने लिए है—अपनी असुविधाओंके लिए और उन्हें वे दूर कर सकते हैं। यहाँ आनेपर यह बात ही दूसरी डगर चल पड़ी।

'कालू ईमानदार था। परिश्रमी था। सीधा था। अच्छा आदमी था वह।' एक वृद्धने बात समाप्त कर देने-के ढंगपर कहा। अच्छा आदमी--इससे अधिक कालूको वे और कुछ माननेको प्रस्तुत नहीं थे। यों अच्छा आदमी और धर्मात्माकी दार्शनिक विवेचना उन्होंने न कभी की थी और न करनेकी उनमें क्षमता थी। 'जब दूसरे चमार लोगोंके उकसानेपर मन्दिरमें जाकर उसे भ्रष्ट कर आये, वह अपनी पूरी पंचायतके हठपर भी मन्दिरके चबूतरेपर नहीं चढ़ा और मन्दिरके सामने दण्डवत् करनेसे किसी दिन चूका भी नहीं। उसमें श्रद्धा तो थी शंकरजीके लिए।'

'और धर्मात्मामें क्या होता है? बड़े-बड़े कामोंमें ही धर्म निहित हो, ऐसी बात तो है नहीं। सचाई, ईमानदारी, अपने कर्तव्यका पालन—बड़े-बड़े यज्ञ, दान आदि दूसरे धर्मोंसे भी बड़े हैं।' पण्डित दीनानाथजीने सम्भवतः लोगोंका भाव समझ लिया था। वे बड़ी गम्भीरतासे एक

बार सबकी ओर देखकर कह रहे थे—'अपनी शक्ति, स्थिति और वर्णाश्रमके अनुसार अपने कर्तव्यका ईमानदारीसे पालन भगवान्की सच्ची आराधना है। कालू एकादशीको शंकरजीके सम्मुख बिना किसी कष्टके शरीर छोड़ गया—यही बात बतलाती है कि प्रभुने उसकी सेवा स्वीकार कर ली।'

देहातके सरल-सीधे लोगोंने श्रद्धापूर्वक स्वीकार कर लिया पण्डितजीका तर्क। आपका उर्वर मस्तिष्क न स्वीकार करता हो तो कोई और मार्ग अन्वेषण करना चाहिए।

शम-सम्पन्न (शान्त)

शमो मन्निष्ठता बुद्धेः ।

आज जब अणु-शक्तिचालित यान समुद्रके वक्ष और उसके अन्तरालको चीरते अबाध गतिसे चल रहे हैं, उस समयकी स्थितिकी कल्पना भी कठिन है, जब वाष्पचालित एञ्जिनका आविष्कार नहीं हुआ था। समुद्री यान तब भी थे और वे सुदूर देशोंकी यात्राएँ करते थे। उन्हें कहा तो जहाज ही जाता था ; किंतु वे बहुत विशाल नौकाएँ होती थीं, जो अनेक-अनेक पाल तान कर चलती थीं।

'क्या आप मुझे शाकद्वीपके मणार प्रदेशमें उतार देंगे ?' एक भारतीयने फ्रांसके समुद्री जहाजके कप्तानसे जब यह प्रार्थना की, तो कप्तान चकित रह गया। यह उस फ्रांसीसी जहाज की बात है जो प्रथम बार भारत पहुँचा था। पुर्तगाली उससे बहुत पहले आ चुके थे। भारतकी यात्रा करके, यहाँके बहुमूल्य वस्त्र लेकर वह जहाज लौटने जा रहा था। फ्रांसकी सुन्दरियाँ उस समय भारतीय कलापूर्ण अत्यन्त सूक्ष्म वस्त्रोंपर प्राण देती थीं।

'शाकद्वीप ?' कप्तान तथा उसके साथी टूटी-फूटी हिंदी बोल-समझ लेते थे। इसके बिना भारतीय-प्रवास व्यर्थ होता। लेकिन इस युवककी बात कप्तानकी समझमें नहीं आयी थी। वह यह भी नहीं समझ पाता था कि यह युवक यात्रा क्यों करना चाहता है; क्योंकि भारतीय व्यापारियोंके अतिरिक्त अन्य वर्णके लोग समुद्र-यात्रासे बचना चाहते थे और यह युवक व्यापारी नहीं लगता था।

'आप उसको दक्षिण करके ही स्वदेश जायँगे।' युवकने बतलाया। उस समय स्वेज नहर तो थी नहीं। यूरोपीय व्यापारीके लिए सम्पूर्ण अफ्रीका घूमकर ही भारत आना पड़ता था। भारतीय व्यापारियोंने बहुत पहलेसे एक मार्ग बना रक्खा था। मिस्र वे पहुँचते थे समुद्रके द्वारा और वहांसे स्थल पार करके भूमध्यसागरमें; किंतु यह मार्ग जलदस्युओंसे पूर्ण था और इससे यात्रा अथवा व्यापार उनके लिए सम्भव था जो अरब तथा मिस्रके कई शासकोंकी मित्रता पहलेसे प्राप्त कर चुके हों।

'आप क्या करेंगे यहाँ उतरकर ?' कप्तानने नक्शा निकाल लिया था। युवकने उसे ध्यानपूर्वक देखकर अफ्रीका महाद्वीपके पश्चिमी तटपर एक स्थान अँगुलीसे सूचित किया और कप्तानके नेत्र आश्चर्यसे फैल गये—'यह मनुष्यभक्षी प्राणियोंकी निवासभूमि है। घोर वन, और उसमें सुनते हैं कि शैतान अपनी पूरी सेनाके साथ रहता है। सिंह, रीछ, अजगर, गुरिल्ले, सात फुटवाले दैत्याकार मनुष्य और इन सबसे भयानक बौने—वहाँ तो

पूरी सेना लेकर हमारा सम्राट् भी उतरनेका साहस नहीं करेगा और आप एकाकी हैं।'

'आप जिसे पृथ्वी कहते हैं, वह सप्तद्वीपवती भूमिके जम्बूद्वीपका भरतखण्ड मात्र है। उसे शाकद्वीप तो मैं आप-के संतोषके लिए कहता हूँ।' युवककी बात कप्तानकी समझमें तो क्या आती, आजके बड़े-से-बड़े भूगोलज्ञकी समझमें नहीं आती है। वह कह रहा था—'मैं सूर्यवंशमें उत्पन्न क्षत्रिय हूँ। मेरे पूर्वज समस्त भूमण्डलके सम्राट् महाराज मरुत्तने वहाँ युगान्तव्यापी महायज्ञ किया था। उनकी उस पावन यज्ञस्थलीके दर्शन करके मैं वहाँ एक अनुष्ठान करना चाहता हूँ। भारतमें सूर्यवंशी सम्राटोंकी यज्ञभूमियोंपर अपनी श्रद्धाञ्जलि मैंने अर्पित कर ली है।'

यहाँ आपको मैं इतना बतला दूं कि युवकका गन्तव्य 'मष्णार' अब भी है। वह कांगोंके पश्चिमी समुद्रतटके समीप पड़ता है। अब उसे 'मस्नार' कहते हैं। सुना है कि वहाँ भूमिमें कुछ नीचे बहुत बड़े भू-भागमें भस्म मिलती है। उस भागके निवासी अब भी अपनी सात फीटकी ऊँचाईके कारण विश्वके सबसे लम्बे मनुष्य माने जाते हैं।

'हम अपना जहाज वहाँ नहीं ले जायँगे।' यूरोपमें कांगोंके उस प्रदेशके सम्बन्धमें अनेक किंवदन्तियाँ फैली थीं। कप्तान अपने बहुमूल्य सामग्रीसे भरे जहाजको किसी संकटमें डालना नहीं चाहता था। 'आपको बिना किसी शत्रुताके मौतके मुखमें डालनेका पाप मैं नहीं करूँगा।'

'आप मेरी चिन्ता मत करें। मौत काँपती है उन श्रीनारायणसे। यम उनके पुत्र हैं और मैं तो उन दण्डधरका भी वंशज हूँ।' युवकने सूर्यकी ओर नेत्र उठाये तो अद्भुत तेज एवं विश्वाससे उसका मुख दीप्त हो उठा। 'आप मुझे दूर समुद्रमें एक छोटी नौका भी न दे सकें तो तटतक तैरकर चले जानेकी भी शक्ति मुझमें है। मुझे केवल वहाँ समुद्रमें उतारनेके लिए ले चलें। आपको इसका पारिश्रमिक प्राप्त होगा।'

'नहीं, इसकी आवश्यकता हमें नहीं है।' कप्तानने वे स्वर्णमुद्राएं उठा लेनेका युवकसे आग्रह किया, जो उसने कप्तानके आगे डाल दी थीं। 'हमें आपके इस आदरणीय देशकी मित्रता चाहिए। फ्रांस साहसी दृढ़निश्चयी शूरोंका सम्मान करना जानता है। आप हमारे अतिथि होकर जहाजपर चलेंगे। समुद्रतटतक जहाज तो नहीं जायगा; किंतु एक छोटी नौकामें हमारे नाविक तटतक उतार आयेंगे। तटपर आप सुरक्षित उतर जांय, केवल इतना हम कर सकते हैं।'

× × ×

अद्भुत अतिथि था यह भारतीय युवक भी। वह अपने साथ ढेर लाया गट्ठरोंके और कई बड़े पात्र जल भरवाये उसने। कप्तानको इससे पता लगा कि भारतीय नदी गङ्गाका जल महीनों स्वयं स्वच्छ, सुरक्षित रहता है। यूरोपसे भारततक आनेमें जहाजके लोगोंको पीनेके पानीका बड़ा कष्ट हुआ था। यद्यपि अफ्रीकाके केप अन्तरीपपर

तथा दो और स्थानोंपर जल उन्होंने लिया था; किंतु वह मार्गमें सड़ गया। उस कृमि पड़े जलको छानकर पीनेपर भी अनेक नाविक रोगी हुए। दुर्गन्धित जल वैसे भी विवशताके कारण ही पीना पड़ता था। कप्तानने जहाजका पूरा जल फेंक दिया और गङ्गाजल अपने पात्रोंमें भी उसने भरवाया। युवक प्रसन्न हो गया— 'गङ्गाजलमें स्पर्शदोष नहीं होता।'

जहाजपर वह अपने साथ लाये गट्ठरोंमें-से सूखे मेवे खाता था। चना, गेहूँ, मूँग भिगाकर चबा लेता था। उसके मेवोंमें जहाजके प्रत्येक सदस्यका दैनिक भाग था; किंतु उसने कप्तानकी कोई वस्तु नहीं ली। उसका व्यवहार ऐसा था जैसे जहाजके दूसरे सब लोग अतिथि हों और वह स्वयं आतिथेय हो। कप्तानने कई बार अपने लोगोंमें कहा—'भारतीय आतिथ्य करनेमें अपनी तुलना नहीं रखते, यह हमने सुना था; किंतु वे अपने सभी सद्गुणोंमें देवताओंसे भी बड़े हैं, यह हमें अनुभव नहीं होता, यदि हम इस युवकका साथ न पाते।'

महीनों लगते थे यात्रामें। स्नेह, सौजन्य, सरलताकी मूर्ति वह युवक सबका अत्यन्त सम्मान-भाजन हो गया था। जहाजपर भी वह तीन समय स्नान करता था। यूरोपके उस समयके उन नागरिकोंको भले वे सुसभ्य शालीन फ्रांसके नागरिक हों, युवककी यह संध्या-पूजा समझमें नहीं आती थी। किंतु जब वह जहाजपर दोनों हाथोंमें जलपात्र उठाकर सूर्यके सम्मुख खड़ा होता था, उसके मुखकी वह उद्दीप्त भंगिमा, वह भव्य शान्ति ऐसी

थी कि कप्तान और नाविक प्रायः नियमसे उस समय उसे देखने डेकपर आ जाते थे। जब वह अपना न समझमें आनेवाला स्तवन समाप्त करके घूमता, एक साथ सब उसे अभिवादन करते। यह क्रम अपने-आप बन गया था और क्यों बना था, इसे कोई जानता नहीं था।

× × ×

'अब क्या होगा।' अकस्मात् वायु सर्वथा बंद हो गया। जहाजके पाल अपने आधारके साथ सीधे झूल गये। जहाज पूरे सात दिन समुद्रमें लगभग एक स्थानपर ही स्थिर रहा तो कप्तानने जहाजके सभी लोगोंको एकत्र किया। वह उनके साथ योजना बनाने लगा था—'कोई नहीं जानता कि पवन कब प्रारम्भ होगा। महीने-दो-महीने अथवा उससे भी अधिक। अनेक जहाजोंके यात्रियोंके समान अन्न-जलके अभावमें हमारे भाग्यमें भी मरना है या नहीं, कैसे कहा जा सकता है। ऐसी अवस्था में आज से सबको सीमित जल तथा आहार मिलेगा। हम अधिक-से-अधिक दिन विपत्तिका सामना करनेको अभीसे तैयार होंगे!'

सबने स्थितिकी गम्भीरता समझ ली थी। किसीके लिए कुछ कहनेको नहीं था। अन्तमें कप्तानने कहा—'एक बात हमें विशेष रूपसे ध्यानमें रखनी है। भारतीय युवक फ्रांसका सम्मान्य अतिथि है। वह अब चाहे जितना हठ करे, उसके मेवे कोई नहीं स्वीकार करेगा। उसको पानीका अभाव अनुभव नहीं होना चाहिए।'

भारतीय युवक इस बैठकमें नहीं था। होता भी तो फ्रेंच वह समझ नहीं सकता था। उसे बड़ा बुरा लगा तब, जब प्रात:काल उसके मेवे स्वीकार करना एक ओरसे नाविकोंने बंद कर दिया। वह झल्लाया पहुँचा कप्तानके कक्षमें—'आपने मेरा सामूहिक बहिष्कार कर दिया है? अन्ततः मुझसे अपराध क्या हुआ?'

'आप देख रहे हैं कि जहाज सात दिनसे समुद्रमें स्थिर है। हमें कबतक पड़े रहना होगा, कौन कह सकता है?' कप्तानके नेत्र भर आये। 'आप हमारा भोजन स्वीकार नहीं करते। यह विपत्तिका समय सबके भोजन-को अधिक-से-अधिक सुरक्षित रखनेका है।'

'ओह! मेरा ध्यान ही नहीं गया कि जहाज स्थिर रहनेसे हम विपत्तिमें पड़ गये हैं।' युवक गम्भीर हो गया। 'जहाँ एक भी क्षत्रिय है, विपत्तिसे बचानेका दायित्व उसपर होता है। वायुको चलना पड़ेगा। वह न भी चले, आप सबको आहार तो मैं दे ही सकता हूँ।'

'आपके मेवे और अन्न सबको कितने दिन भोजन देंगे?' कप्तानको लगा कि युवक अभी परिस्थिति समझ नहीं रहा।

'आप सब मत्स्यभोजी हैं और मैं अपना धनुष साथ लाया हूँ। सागरमें जलचरोंका अभाव नहीं है। भारतीय लक्ष्यवेध आपने देखा नहीं होगा।' युवकने उसी गम्भीरतासे कहा। 'किंतु वायुको चलना चाहिए।'

वह मुड़ा और डेकपर आ गया। कुतूहलवश ही कप्तान उसके पीछे आया। युवकने दोनों हाथ उठा दिये भगवान् सूर्यकी ओर मुख करके। उसके मुख से सस्वर श्रुतिके मरुत्-स्तवनके मन्त्र उच्चरित होने लगे। उसके मुखकी अरुणिमा गाढ़-से-गाढ़तर होती गयी।

'भारतीय अद्भुत शक्ति रखते हैं।' सुना तो सबने था; किंतु आज सबने देखा। जहाजके नाविक डेकपर थोड़ी देर ही रह सके। वायुमें गति आ गयी थी। पाल तन गये थे। सबको अपने कार्यपर पहुँचना आवश्यक हो गया। जहाज पूरे वेगसे लक्ष्यकी ओर चल पड़ा था।

× × ×

विपत्ति अकेली नहीं आती। केवल दो सप्ताहकी यात्रा सकुशल चली उस सप्ताह भर एक स्थानपर स्थिर रहनेके पश्चात्। अचानक रात्रिमें जहाजपर खतरेका बिगुल बजने लगा। भाग-दौड़ने युवककी निद्रा भंग कर दी। वह कक्षसे बाहर आया। नाविक दौड़ रहे थे। पाल सब कुछ क्षणोंमें उतार दिये गये। जल तथा भोजनके भारी पात्र जंजीरोंसे जकड़ दिये गये। प्रत्येक कक्षमें नाविकोंने जाकर हर छोटी-बड़ी वस्तुको कहीं बंद किया अथवा बाँधा। युवकके कक्षमें भी यही हुआ। लेकिन यह सब क्या हो रहा है, युवक समझ नहीं सका। इस समय किसीको उसकी ओर ध्यान देनेका अवकाश नहीं था और युवक उन लोगोंकी पुकार तथा घबराहट-भरे वाक्य

समझ नहीं पाता था। वह कक्षसे निकलकर डेकपर आ गया।

पूर्णिमाकी उज्ज्वल चन्द्रिकामें उल्लसित सागर—उसमें उत्ताल तरंगें उठ रही थीं। युवकके लिए डेकपर निरावलम्ब खड़े रहना सम्भव नहीं रहा। उसने एक पालके दण्डको पकड़ लिया। उसे नाविकोंकी व्याकुलता समझनेमें देर नहीं लगी। दूर क्षितिजतक उठता, उबलता उदधि घोर गर्जन करता उमड़ा आ रहा था। उसे समुद्रीय तूफानका अनुभव भले न हो, विपत्तिका स्वरूप ज्ञात हो गया। जहाजकी प्रत्येक वस्तु क्यों बन्धनमें रक्खी गयी, यह भी वह समझ गया। उत्ताल लहरोंपर उछलते जहाजमें कोई खुली वस्तु तो वेगसे टकराती, लुढ़कती विनाशका ही साधन बनेगी। वह मनुष्योंको मार सकती है। सामग्री नष्ट कर सकती है। जहाजको तोड़ दे सकती है।

'हे भगवन्!' जहाजमें प्रायः लोग कातर प्रार्थना करनेमें लगे थे। वह साधारण आँधी नहीं थी। अकल्पित तूफान था। जहाज किसीके नियन्त्रणमें नहीं रह गया था। वह किधर जा रहा है, कोई बता नहीं सकता था। सब भयभीत, सब अस्तव्यस्त और सब किसी-न-किसी खंभे अथवा दृढ़ आधारको दोनों भुजाओंमें जकड़े बैठे थे। जहाज उछलता था, झटके लगते थे और लगता था कि भजाएँ उखड़ जायँगी।'

'नारायण! तुम्हीं रुद्र हो। तुम्हारा यह ताण्डव—बड़ा भव्य है यह तुम्हारे पावनपदोंकी गति प्रभु!'

किसीको अवकाश नहीं था कि देखे कि भारतीय युवक क्या कर सकता है।

'आप कुछ कर सकते हैं ?' कप्तान किसी प्रकार समीप आया युवकके और उसने प्रार्थना-कातर स्वरमें कहा। पर्वताकार तरङ्गें—लगता था कि जहाज अब डूबा। कप्तानने अपने सब लोगोंको जहाजमें आये जलको निकालनेमें लगा दिया था।

'मैं ? मुझे कुछ करना चाहिए ? आप जो आदेश दें !' युवक चौंका। उसे लगा कि कप्तान उसे भी जल निकालने-जैसे काममें लगाना चाहता है।

'इस अकल्पित तूफानसे जहाजकी रक्षाके लिए आप अपनी अद्‌भुत शक्ति काममें लें तो कदाचित् हम सबका जीवन बच जाय।' कप्तानको ऐसी अवस्थामें भी इस शान्त, सुप्रसन्न युवकका मुख देखकर आशा हो गयी थी।

'हम उस अनन्तशायीके अङ्कमें हैं। वह तनिक क्रीड़ा कर रहा है। उसकी क्रीड़ामें आप सहयोग करेंगे ?' युवक अपनी धुनमें पूछ गया।

'अवश्य !' कप्तानने केवल इतना समझा कि युवक कुछ करना चाहता है और उसे सहयोगकी अपेक्षा है।

'जहाजकी दिशा नियन्त्रित कीजिये। उसे मेरे निर्दिष्ट मार्गपर चलने दीजिये ! वह लीलामय जो लीला दिखलाना चाहता है, उसे देखनेमें हम कातर क्यों हों ?' युवक उठ खड़ा हुआ। उसने एक हाथसे स्तम्भ पकड़ा और एकसे दिशा-निर्देश करना प्रारम्भ किया।

'कप्तान ! रोको उसे । भारतीय पागल हो गया है।' नाविकोंके तीनों नायक एक साथ दौड़े आये थे। 'वह जहाजको भयंकर भँवरकी ओर ले जा रहा है।'

'जहाजको यदि कोई बचा सकता है तो वही बचा सकता है। जहाज वैसे भी डूबेगा ही, अतः उसके आदेशका पालन होना चाहिए।' कप्तानके स्वरमें वज्रकी दृढ़ता थी। 'तुम उसके मुखको नहीं देखते ?'

सचमुच उस युवकके मुखपर जो शान्ति, जो निश्चिन्तता, जो प्रसन्नता थी, वह दूसरेको भी निश्चिन्त कर देती थी। कप्तान भी काँप गया जब ठीक मीलोंतक चक्कर काटते भँवरमें जहाज डाल देनेका संकेत युवकने किया; किंतु उसका आदेश पालन करना ही था।

'अब आपका जहाज सिन्धुसुताके स्नेहसे सुरक्षित है!' भारतीय युवक घूमा कप्तानकी ओर।

'ओह ! तो आप सागरीय-ज्ञानके भी महापण्डित हैं।' कप्तान बढ़कर गले लिपट ही गया। समुद्रमें जहाँ उत्तुङ्ग लहरें उठती हैं, वे आगे उमड़कर एक स्थानपर जलके नीचेसे लौटती हैं। इस स्थानको समुद्रकी पछाड़ कहते हैं। यह स्थान परिवर्तित होता रहता है, किंतु वहाँ समुद्रका जल स्थिर शान्त होता है। जहाज इस समय समुद्रकी पछाड़में पहुँचकर स्थिर, निश्चल खड़ा था। चारों ओर हाहाकार करती, क्षितिजको छूती लहरें अब उठती रहें, जहाजमें केवल हल्का कम्पन ही होना सम्भव था। अनुभवी कप्तानने देख लिया था कि अब तूफान शान्त

होनेतक उसे खुले समुद्रमें ऐसा स्थान मिल गया है जो किसी भी सुरक्षित बन्दरगाहसे अधिक सुरक्षित है।

'आपकी इस अखण्ड शान्तिका रहस्य क्या है?' कप्तान युवकको आदरपूर्वक अपने कक्षमें ले आया था। उसने बहुत विनम्र होकर पूछा—'समुद्रीय-ज्ञान आपने कहाँ उपलब्ध किया!'

'मेरी यह सर्वप्रथम समुद्र-यात्रा है। समुद्रसे मेरा कोई परिचय नहीं।' युवक सरल स्वरमें कह रहा था। 'किंतु समुद्रशायी श्रीहरि मेरे अपने हैं, यह मैं जानता हूँ। सृष्टिके संचालकपरसे दृष्टि मत हटने दो, महाप्रलय भी तुम्हारी शान्तिको कम्पित करनेमें असमर्थ रहेगी।'

× × ×

कोई नहीं चाहता था कि युवक उस अरण्यके भयावह तटपर उतरे, किंतु उसे उतरना ही था। छोटी नौकापर उसे तटतक छोड़ने स्वयं कप्तान गया।

उसके बाद कोई नहीं जानता कि उस युवकका क्या हुआ। पीछे कांगोके बेल्जियम प्रशासकको वन्य जातियोंके एक प्रमुखने एक दिन कहा था—'एक भारतीय योगी हमारे यहाँ एक रात्रि रहा था। पता नहीं, उसमें क्या था कि गुरिल्लोंके दलका सरदार उसके पैरोंके पास सबेरे आ बैठा। वह गुरिल्लोंके साथ उत्तर चला गया।'

मिस्रमें एक भारतीय व्यापारीको एक तरुण मिला एक दिन। व्यापारीने उसके भारत पहुँचानेकी व्यवस्था कर दी। व्यापारीको लगा कि तरुण कुछ विक्षिप्त हो गया है ; क्योंकि सम्पूर्ण अफ्रीका महाद्वीपको केवल धनुष लेकर पैदल पार करनेकी बात तो व्यापारीकी समझसे कोई विक्षिप्त ही कर सकता है। इसपर वह युवक उस जातिके मांसाहारी, दारुणतम गुरिल्लोंको अपना सहायक बतलाता था, जिनकी दहाड़ सुनकर सिंह भी पूँछ दबाकर दुबकनेका स्थान ढूँढ़ते दीखते हैं।

दम-सम्पन्न (दान्त)

'दम इन्द्रियसंयमः।'

'अध्यात्म-तत्त्वकी उपलब्धि करनी है तो इन्द्रियोंका दमन करो।' महात्माने जितने सीधे ढंगसे बात कह दी, कदाचित् उसका करना भी इतना ही सीधा-सरल होता।

'शरीरको स्वस्थ रखना है तो इन्द्रियोंको साधो!' पता नहीं क्या बात थी कि आज ये अवधूतजी एक ही बातके पीछे पड़ गये थे। कोई किसी प्रयोजनसे आवे आज इन्हें इस एक ही उपदेशकी धुन थी।

'यश अपेक्षित है तुम्हें? इन्द्रियोंको दबाओ।' अवधूतजीने बात भी पूरी नहीं सुनी और उपदेश दे दिया।

'इन्द्रियोंका दमन करो, इन्द्रियोंको दबाओ, इन्द्रियोंको साधो' सुनते सुनते ऊब गया वह। उसकी साधु-संतोंमें श्रद्धा है। इन अवधूतजीसे उसे विशेष प्रेम है। ये भी इधर दो-तीन महीनेमें आ जाते हैं और आते हैं तो पाँच-दस दिन इसी आम्रोद्यानमें रुकते हैं। ओषधि, ज्योतिष, मन्त्र और, पता नहीं, क्या-क्या अल्लम-गल्लम आता है

अवधूतजीको। ग्रामके सीधे श्रद्धालु लोग साधुको सर्व-समर्थ सहज ही मान लेते हैं। उसकी धारणा है कि अवधूतजी उत्तम साधु हैं तथा योग-साधनोंके ज्ञाता भी। दूसरी बातें तो वे लोगोंके आग्रहसे उन्हें संतुष्ट करनेको करते हैं।

'नारायण! यह सब आपका नाटक है। आप जो अभिनय कराना चाहते हो, करता हूँ।' अवधूतजी मस्तीमें आनेपर ऐसी बातें कहने लगते हैं, जो दूसरों-की समझमें कम आती हैं। 'यह रोग ग्रह-पीड़ा और यह आपका व्याकुलता नाट्य--नाट्य ही तो है यह सब आपका। आप लीला करना चाहते हो तो करो।'

'आपने आयुर्वेद और ज्योतिषका अध्ययन कहाँ किया था?' उसने एक दिन पूछ लिया था।

'नारायण! रोग-शोक कहाँ हैं तुम्हारे स्वरूपमें।' वे सबको नारायण ही कहते हैं। 'अच्छा! हैं भी तो कर्म-प्रारब्धका भोग मानते हो न उन्हें। चिकित्सा तथा दूसरे प्रयत्न एक प्रकारके कर्म-प्रायश्चित्त ही हैं। मेरा ज्ञान कैसा। तुम मुझे अपनी लीलामें योग देनेको कहते हो तो मैं तुम्हारी इच्छाका पालन करता हूँ।'

बात उसके पल्ले भी कम ही पड़ती है; किंतु अवधूतजी उसे बहुत अच्छे लगते हैं। सम्पन्न घरका युवक है। घरपर काम कुछ है नहीं। पिताकी सावधानी तथा भगवान्‌की कृपासे कोई दुर्व्यसन नहीं लगा। अवधूतजी आते हैं तो वह प्रायः पूरे दिन उनके समीप

रहता है। घर केवल भोजन करता है। उसकी चले तो अपने घरसे ही नित्य भिक्षा लाये इन साधुजीके लिए ; किंतु दूसरोंकी श्रद्धाको भी सत्कार मिलना चाहिए। अवधूतजी उसका ऐसा आग्रह नहीं स्वीकार करते, इसका औचित्य वह समझता है।

'संसारासक्त प्राणी सुख-शान्ति पा जाय तो प्रभुको स्मरण ही क्यों करे।' एक दिन अवधूतजीने ही उससे कहा था। सृष्टिकर्ताने इसीलिए समस्त सुख-साधनोंमें अपूर्णत्व, अशान्ति और क्लेशके बीज डाल दिये हैं। सृष्टिमें सुख-शान्तिके प्रलोभनसे जिस पुष्पका स्पर्श करो, वहीं कष्टका, असंतोषका कड़ा दंश प्राप्त होता है। यह तुम्हारी ही तो व्यवस्था है नारायण! तुम्हारी असीम अनुकम्पाका स्वरूप है यह।'

रोगी, उत्पीड़ित, अभावग्रस्त अथवा कामनाओंके मारे लोग ही तो हैं संसारमें। अवधूतजी आते हैं तो उनके पास आर्त प्राणियोंकी भीड़ आती है। किसीको ओषधि बतलायेंगे, किसीको ग्रह-शान्ति करनेको कहेंगे। मन्त्र, अनुष्ठान अथवा कोई आसन-प्राणायाम बतायेंगे। जिज्ञासु कम ही आते हैं। संसारके आकर्षणसे प्राण छूटें तो इसके परे क्या है, यह जाननेकी इच्छा हो। जो गिने-चुने दो-चार जिज्ञासु आते हैं, अवधूतजी उनका बहुत आदर करते हैं। उनको स्नेहसे समीप बैठाकर उपदेश करते समय स्वयं पुलकित हो जाया करते हैं।

'आपने साधन तो बतला दिये ; किंतु उनको करने-में मन तो लगता नहीं ।' आज सवेरे ही उसने पूछा था और तबसे अवधूतजीको 'सब नुसखेमें अमिलतास' वाली धुन चढ़ी थी । उसे तो उन्होंने इन्द्रियदमन बतलाया ही, रोगियोंको, संतान-कामनासे आनेवालोंको, मुकदमेकी चिन्ता लेकर जो आया उसे और चुनावमें जीतनेका आशीर्वाद लेने पधारे नेताजीको भी एक ही उपदेश देते चले गये ।

× × ×

'आप एक कहानी सुननेकी कृपा करेंगे ?' जब एकान्त मिला, युवक समीप बैठकर अवधूतजीके पैर दबाते हुए बोला ।

'सुनाओ !' साधुने विशेष ध्यान दिये बिना कह दिया ।

'मेरे बच्चेको ज्वर आया है ।' एक वृद्ध एक वैद्यजी-के पास पहुँचा तो वैद्यजीने अपने पुत्रसे कहा— 'जुलाब दे दो !'

'मेरे घुटनोंके जोड़ोंमें बहुत दर्द रहता है ।' दूसरा रोगी आया ।

'जुलाब दे दो !' वैद्यजीने फिर कह दिया ।

'मेरा भाई गिर गया था । पैरमें बहुत चोट आयी है ।'

'जुलाब दे दो !' वैद्यजीके पास नुस्खा ही दूसरा नहीं था।

युवककी यह कहानी सुनकर अवधूतजी जो लेट गये थे, उठ बैठे और खूब हँसे। उन्होंने कहा—'तुम कहना क्या चाहते हो ? यह कि मैं उन वैद्यजी-जैसा हो गया हूँ ?'

युवक मौन बना रहा। अवधूतजीने समझाया—'वे वैद्यजी बहुत कम स्थानोंपर असफल होते होंगे। शरीरके अधिकांश रोगोंका मूल उदर है। उदर स्वच्छ हुआ तो रोग अपने-आप चले जायँगे। मुझे जहाँ दीखेगा कि मेरा नुस्खा अनुपयोगी है, उसमें परिवर्तन कर लूँगा।'

'दुखता सिर है और आप कहते हैं पैरमें मलहम मलो !' युवक बहुत खुल गया था महात्माके समीप। वैसे भी साधुसे संकोच नहीं होता, यदि वह सचमुच साधु हो।

'असंयमसे रोग होते हैं इसे तुम जानते हो !' अवधूत-जीने स्नेहपूर्वक समझाना प्रारम्भ किया। अधिकांश रोग जिह्वा तथा उपस्थके अतिचारसे होते हैं। इनका संयम करो तो जो विकार देहमें आये हैं प्रकृति उन्हें स्वयं दूर कर देगी।'

'मामले-मुकदमे, ग्रह-दोष सब इन्द्रिय संयमसे मिट जायँगे ?' युवकके लिए यह बात समझना सरल नहीं था।

'झगड़े जिह्वाके दोषसे होते हैं। इन्द्रियोंको शान्त रक्खो। प्रतिपक्षी पिशाच ही न हो तो देर-सबेर स्वयं लज्जित हो जायगा।' अवधूतजी कह रहे थे। 'न भी समझे तो तुम तो दोषसे बचोगे और हानि दूसरा कर नहीं पाता। वह तो अपने ही कर्मका फल है। ग्रहोंकी बात भी समझ लो। किसी अनुष्ठानसे ग्रह अपनी राशि तो परिवर्तित नहीं करेगा। राशि-परिवर्तन तो समयपर ही होगा। अनुष्ठान उसके प्रभावको निष्क्रिय करता है। इन्द्रिय-संयम स्वयंमें तप है और उसकी शक्ति किसी तप या अनुष्ठानसे कम नहीं है।'

'और वे नेताजी संयमी बन जायँ, लंबे व्याख्यान बंद कर दें तो चुनाव जीत लेंगे?' युवकको अब भी लगता था कि सबको एक ही उपदेश देना साधुकी सनक ही है।

'तुम सच बतलाओ, तुम्हारे क्षत्रमें कोई सरल संयमी सीधा व्यक्ति ऐसा है, जो सबकी सेवा करता हो?' महात्माने पूछ लिया।

'है'—युवकको कुछ क्षण सोचना पड़ा। उसने एक अहीर भगतका नाम लिया था।

'मैं उसे जानता हूँ। वह व्याख्यान तो क्या देगा ठीक बात करते भी संकोच करता है।' अवधूतजी बोले। 'मैं किसी प्रकार उसे चुनावमें खड़ा कर दूं, तुम्हारा क्या अनुमान है कि उसको कुछ मत प्राप्त होंगे?'

'भगत खड़ा नहीं होगा।' युवकने कहा, किंतु झिझक गया। नेताजीसे उसका अच्छा सम्बन्ध है। अवधूतजी कोई आज्ञा देंगे तो वह अशिक्षित श्रद्धालु भगत टाल ही देगा, यह उसे भगतके चुनावमें खड़े होनेसे अधिक कठिन लगा। उसने कहा—'आपकी आज्ञा मानकर वह खड़ा हो जाय तो इस क्षेत्रमें कुछ अत्यन्त स्वार्थी ही हैं जो उसे मत नहीं देंगे। वह बिना कुछ व्यय किये जीत जा सकता है।'

'इसका अर्थ है कि भ्रष्टतम व्यक्तिके मनमें भी संयमके प्रति अत्यधिक आदर-भाव है। वह भले स्वयं उसे जीवनमें अपना न सके।' अवधूतजीने कहा। 'जनता आज अयोग्य असयमी स्वार्थपरायण विद्वानोंसे ऊब चुकी है और उनके स्थानपर अशिक्षित, अज्ञ, संयमीको भी अपना प्रतिनिधि बनाना पसंद करती है।'

साधुकी वाणीमें जो सत्य था, उसे युवक कैसे अस्वीकार कर दे? कोई भी उसे कैसे अस्वीकार कर सकता है? युवकने मस्तक झुकाकर विनम्र स्वरमें कहा—'मैं अपना स्पष्टीकरण सुनना चाहता हूँ।'

'अब कल!' अवधूतजी उठ गये। 'कानोंसे ग्रहण किये गये आहारको पचनेका भी अवकाश दो।'

श्रुत-तत्त्वको मनन करनेका अवकाश मिलना चाहिए, यह बात जहाँ सत्य थी, वहाँ यह बात भी सत्य थी कि युवक भूल ही गया था कि उसके संध्यावन्दनका समय

हो गया है। कालका अतिक्रम अत्यन्त विवशता होनेपर ही वह करता था।

× × ×

'तुम अपने सबसे छोटे भाईको दस सेर भार लानेको कह सकते हो ?' दूसरे दिन प्रातःकाल प्रणाम करके जैसे ही वह बैठा, अवधूतजीने पूछा उससे।

'दस सेर ? वह तो अभी केवल तीन वर्षका बच्चा है। अभी पिछले दिनों ही बीमार रहा है।' युवकने याचना भरे स्वरमें कहा। 'ऐसा क्या कार्य है ? कोई दूसरा उसे नहीं कर सकता ?'

'भगवान्में तुमसे कम ममत्व और करुणा है, इसे माननेका कोई कारण है तुम्हारे समीप ?' अवधूतजी ऐसे अटपटे, अप्रासंगिक प्रश्न प्रायः कर बैठते हैं। इससे किसीको आश्चर्य नहीं होता।

'उन करुणावरुणालयकी अनन्त कृपाका क्षुद्रतम सीकर सम्पूर्ण सृष्टिको सनाथ करता है।' युवकने भरे स्वरमें उत्तर दिया।

'तब तुम जो नहीं कर सकते, उसकी तुमसे अपेक्षा वह दयाधाम नहीं करेगा। उसके लिए तुम्हें चिन्ता क्यों है ?' अवधूतजीके स्वरमें अत्यन्त वात्सल्य उमड़ आया। 'तुम उसके लिए जो कर सकते हो, उसमें प्रमाद मत करो। यही उसे संतुष्ट करनेके लिए पर्याप्त है।'

'देव !' युवकने मस्तक रक्खा महात्माके चरणोंपर।

'मन तुम्हारे वशमें नहीं है। वह तुम्हारे लगाये कहीं नहीं लगता तो तुमसे अपेक्षा भी नहीं की जायगी कि तुम मन लगाकर एकाग्रतासे ही कुछ करो।' अवधूत-जीने अपनी बात स्पष्ट की। 'तुम्हारे अधिकारमें मन नहीं तो उसे तुम दे भी कैसे सकते हो ? इन्द्रियाँ वशमें हैं ? प्रयत्न करके उन्हें रोक सकते हो।'

'उन्हें रोकनेपर भी मन उनके विषयोंका चिन्तन…' युवकने सिर उठाया।

'मनकी बात अभी छोड़ दो। तुम इन्द्रिय-संयमका दम्भ तो कर नहीं रहे। इन्द्रियोंको प्रयत्नपूर्वक रोको, दमसम्पन्न बनो। देखोगे कि मन स्वतः शान्त होने लगा है। मनोनिग्रहरूपी शम इन्द्रियोंके दमनका अनुवर्ती है।' अवधूतजीने अपनी बात समाप्त करके आशीर्वाद दिया—'दान्त हो वत्स !'

युवकने उनके चरणोंपर मस्तक रख दिया।

तितिक्षा

'तितिक्षा दुःखसम्मर्षः ।'

चतुर्दिक् रजतधवल उत्तुंग हिमश्रृङ्ग, उनसे अज्ञात गतिसे निकले हिमस्रोत जो नीचे आकर निर्भरमें परिवर्तित हो जाते थे और उन निर्भरोंका प्रवाह 'दामोदर-कुण्ड' बनाता है। नैपालमें मुक्तिनाथसे पर्याप्त आगे दुर्गम पर्वतोंमें है यह शालिग्राम-क्षेत्र। इसी परम पावन स्थलीको बाबा गोरखनाथने अपनी साधनभूमि बनाया था।

'जहाँ दो कोसतक चारों ओर एक भी प्राणी न हो, वहाँ आसन लगा।' अपने सहज समर्थ शिष्यको दीक्षाके उपरान्त योगीश्वर मत्स्येन्द्रनाथजीने आदेश दिया था। कहीं भी जायँ, प्राणी तो मिलेंगे ही। उस हिमप्रान्तको उन्होंने प्राणिशून्य देखा था। पर्वतीय पक्षी भी उन दिनों वहाँ नहीं थे। बरफने जहाँ सारी धरतीको अपनी लंबी-चौड़ी सफेद चादरसे ढक रक्खा हो, क्षुद्र कीटोंका वहाँ रहना सम्भव नहीं होता।

'देहकी स्मृति ही सबसे बड़ी बाधा है।' गोरखनाथजी साधारण मानव तो थे नहीं कि उन्हें साधनाकी विस्तृत

व्याख्या आवश्यक होती। गुरुने केवल सूत्र सुना दिये थे। उन सूत्रोंका विवेचन उन्हें स्वयं प्राप्त करना था।

'देहकी स्मृति—देहाध्यास दुस्तर तो है।' आज जहाँ जानेके लिए विशेष वस्त्र, विशेष जूते तथा अनेक औषधियाँ आवश्यक होती हैं, जहाँ यात्री सिरसे पैरतक अनेकानेक अच्छे भारी ऊनी वस्त्रोंसे आच्छादित होकर किसी प्रकार जा पाता है। जहाँ नेत्रोंपर चश्मेका नीलावरण न हो तो हिमपरसे प्रतिविम्बित सूर्यकी किरणें आधे ही क्षणमें अन्धा बना दें और नासिका किसी चिकने लेपसे लिप्त न हो तो हिमदंशसे कब गल गयी, पता ही न लगे, उस स्थानमें जो केवल कटिमें काली कौपीन बाँधे, नग्नदेह, नग्नपद पहुँचा हो, उस कर्णमें विशाल योगमुद्राधारीकी कठिनाईका कोई ठिकाना है?

उन योगाचार्यको शीत संतप्त नहीं करता। सिद्धौषध-शास्त्रके उन महान् मर्मज्ञको न हिमान्धता हो सकती थी, न हिमदंश; किंतु प्रकृति अपने कार्यमें प्रमाद तो नहीं करती। श्वाससे बाहर आती आर्द्रता मूँछोंपर हिमकण बनकर स्थिर होती जा रही थी। हिमने जटाओं तथा श्मश्रुपर छाकर उन युवा योगीको श्वेतकेश-जैसा बना दिया था। हिम, जल और यत्र-तत्र कुछ शिलाएँ—तृणका नाम वहाँ नहीं था। कोई ऐसी पाषाण-शिला नहीं मिली, जिसपर वे आसन लगाते। दामोदरकुण्डके जलमें डुबकी लगाकर आर्द्रदेह, आर्द्रकेश ही वे हिमशिलापर पद्मासनसे बैठ गये थे। प्राणायामने शरीरको संज्ञाशून्य नहीं होने दिया। अन्यथा वहाँ प्राणो

दामोदरकुण्डमें प्रवेश करते ही अर्धमूर्छित हो जाता है, किसी प्रकार जलसे शीघ्रतासे निकलनेपर भी सर्वाङ्ग अवश, अनियन्त्रित हो जाता है।

'बहुत बाधक है यह देहकी अनुभूति।' गोरखनाथजी जैसे जन्मसिद्धके लिए भी वहाँ मनको देहसे हटाकर एकाग्र करना कठिन हो रहा था। प्राणायामसे प्राप्त उष्मा शीघ्र समाप्त हो जाती थी और तब लगता था कि शीत अस्थियोंमें प्रवेश करके उन्हें छिन्न-भिन्न कर रहा है। एक-एक स्नायु फट जायगी, इतनी दारुण वेदना उठने लगती। रक्त जब जमने लगे, पीड़ा होती ही थी। पुनः प्राणायामका आश्रय लेना पड़ता था।

'युक्ताहारविहारस्य' गीताके गायकने 'योगो भवति दुःखहा'की सिद्धिका साधन जो कहा है, बहुत महत्त्वपूर्ण है। आयुर्वेदने स्वस्थ शरीरकी पहचान बतलायी है कि शरीरका स्मरण न हो। बहुत शीत या उष्णता, अनाहार अनिद्रादिसे उत्पीडित शरीर अपनी ओर मनको बार-बार आकर्षित करेगा। ऐसी अवस्थामें ध्यान, भजन आदि नहीं होता। शरीरकी सामान्य आवश्यकताओंको पूर्ण करके, उसे साधारण स्थितिमें रखकर और मनकी वासना-तृष्णाको बलपूर्वक दबाकर साधन चलता है।

ये सब बातें सामान्य साधकके लिए हैं। सृष्टिमें जो विशेष शक्तिशाली आते हैं, वे अपना विशेष मार्ग भी बना लेते हैं। संघर्षमें अपनेको डालकर विजय प्राप्त करनेका जो गौरव है, वह उनका भाग है। उनके

साथ स्पर्धा करने जाकर सामान्य व्यक्ति तो अपना विनाश ही बुलायेगा।

योगी युवक गोरखनाथ असामान्य पुरुष थे। प्रकृति उनको पराभव दे सके, इतनी शक्ति उसमें नहीं हो सकती। उस देववन्द्य पावन स्थलको त्यागकर अन्यत्र जानेकी बात मनमें उठ नहीं सकती थी। प्राणी-वर्जित प्रदेश और वह भी पुण्यभूमि और कहाँ प्राप्त होनी थी। उन्होंने निश्चय किया—'इस देहकी ओर ही पहले ध्यान देना चाहिए।'

जब देह लक्ष्यकी ओर नहीं जाने देता, देहको ही लक्ष्य बनाकर उसकी ओरसे पहले निश्चिन्त हो लेना चाहिए, यह तर्क उस समय भी नवीन नहीं था। भगवान् दत्तात्रेयका रसेश्वर-सम्प्रदाय इसी आधारको लेकर चलता था और गोरखनाथजीके लिए सिद्ध रसेन्द्र-प्रक्रिया अपरिचित नहीं थी।

× × ×

शुभ्र शशाङ्क-धवल विप्र पारद आज अप्राप्य है और सुप्राप्य वह कभी नहीं था; किंतु जो ध्यानावस्थित होकर त्रिलोकीके सम्पूर्ण बाह्याभ्यन्तरका दर्शन कर सकता हो, उसे वह दुर्लभ नहीं हो सकता था। सिद्धेश्वर रसेन्द्र मणिलिङ्ग सुतलमें सही, महायोगीके लिए सुतल अगम्य कहाँ है।

सविधि सुमुहूर्तमें उस मणिलिङ्गके सान्निध्यमें जब अभिषिक्ता अर्चिता द्वात्रिंशल्लक्षणा सिद्धिदा कौमारी शक्तिने रसार्दन प्रारम्भ किया, आधिदैविक शक्तियोंमें आक्रोश उठना स्वाभाविक था। स्थूल जगत् अपनी सीमामें रहे, यह जिनका दायित्व है, मानव जब उनके अधिकारको चुनौती देकर उठ खड़ा होता है, उन्हें भी अपने शस्त्र सम्हालने ही पड़ते हैं। दिशाएँ काँपने लगीं। अकाल उल्कापात तथा प्रचण्ड उत्पात प्रारम्भ हुए; किंतु गोरखने दृष्टि उठायी और वे सब शान्त हो गये।

क्षेत्रपाल और स्थल-(ग्राम-) कालिकाने अपनेको असमर्थ पाया उस महासाधकके सम्मुख जानेमें। जहाँ छिद्र होता है, विघ्न वहीं आते हैं। प्रमादरहित, पूर्ण जागरूक गोरखनाथके समीप विघ्न कहाँसे जाते? योग एवं रस-साधनाके विघ्नोंको तो उनका नाम-स्मरण ही निवृत्त कर देता है।

सहसा गोरखनाथ आसनसे उठ खड़े हुए। उन्होंने जल एवं बिल्वपत्र हाथमें लिया। धरा-अम्बरको अपने पदाघातसे पीड़ित करती, उग्रतेजा भगवती छिन्नमस्ता दौड़ती आ रही थीं। अपने ही हाथमें अपना मस्तक लिये, अपने छिन्नशिर कबन्धके कण्ठदेशसे फूटती रुधिर-धाराको उस मस्तकसे और अपने अन्य दो रूपोंसे पान करती, खड्ग-खप्पर-पाश-मस्तकहस्ता, त्रिरूप-धारिणी उन महाशक्तिके मुखोंसे बारंबार चीत्कार फूट रहा था—'नाशय! नाशय! हुं।'

'नमः त्रिपुरान्तकाय महारुद्राय हुं फट्' गोरखनाथजीने बिल्वपत्रसे जलविन्दु निक्षिप्त किये और अत्यन्त विनीत स्वरमें बोले—'मातः ! आप कोई रूप ले लें, शिशुपर निष्करुण नहीं हो सकतीं । यहाँ भगवान् नीललोहितका मणिलिङ्ग विराजमान है । इसकी अवमानना आपको भी अभीष्ट नहीं होगी ।'

क्षणार्धमें सर्वत्र शान्तिका साम्राज्य हो गया । छिन्नमस्ताका हस्तस्थित मस्तक उनके कण्ठदेशपर पहुँच-कर स्थिर हो गया । उनके पार्श्वकी उनकी दोनों मूर्तियाँ उनमें लीन हो गयीं । वे दिगम्बरा त्रिरूपा अब पाटलारुणवस्त्रा, किञ्चित् श्यामवर्णा, तिर्यक्-मुखस्थिता, त्रिलोचना त्रिपुरभैरवी बन चुकी थीं ।

'शङ्करहृदिस्थिता करुणामयी अम्बे ! आप सुप्रसन्न हों ।' गोरखनाथने स्तवन किया सविधि ; किंतु वह रूप त्रिपुरसुन्दरी नहीं बना । कोई चिन्ताकी बता भी नहीं थी । त्रिपुरसुन्दरीके सम्मुख स्थित होनेपर आशुतोषके स्फटिक गौर वक्षमें जो उनका प्रतिबिम्ब पड़ता है, भस्माङ्गरागलिप्ताङ्गकी छायासे किञ्चित् श्यामवर्णा वह त्रिपुरभैरवी शिवहृदिस्थित होनेसे अतिशय करुणामयी हैं । साधकके लिए वे परम सिद्धिप्रदा हैं ।

'तुमने महाशक्तिकी अर्चनाके बिना ही यह कर्म प्रारम्भ कर दिया । यह भो स्मरण है तुम्हें कि यह युग कौन-सा है ? कलिमें रससिद्धि कदाचित् ही होती है । तुम केवल अपने तोन शिष्योंको इसे दे सकोगे ।'

भगवतीने एक सीमा निर्धारित की और वे अन्तर्हित हो गयीं।

रसार्दनका श्रम, नियम-पालन तथा प्राणापदाको जिन्होंने स्वीकार किया था, उन कौमारी शक्तिको वञ्चित करना शक्य नहीं था। वे उस सिद्ध रसका सेवन करके अमर योगिनी हो गयीं। अनेक नामोंसे उनका उल्लेख कई योग-सम्प्रदायोंमें पाया जाता है।

गोरखनाथजीका देह रसेन्द्रका सेवन करके सिद्ध हो गया। वे अपने तीन शिष्योंको ही यह लाभ दे सकेंगे, यह चिन्ता अनावश्यक थी। अब उन्होंने फिर दामोदर-कुण्डके समीप हिमशिलापर आसन लगाया। प्रकृतिकी कोई शक्ति अब उनके देहको प्रभावित नहीं कर सकती थी। अब उनके ध्यानमें देह बाधा नहीं दे सकता था।

× × ×

'यह क्या दम्भ करने बैठा है?' उन्मुक्तकेश, अङ्गारनेत्र, दिगम्बर, मलिनकाय एक अतिदीर्घ देह पागल पता नहीं कहाँसे उस प्राणिहीन प्रदेशमें आ गया था और वह बार-बार अट्टहास कर रहा था। अद्भुत बात यह थी कि गोरखनाथजी ध्यान नहीं कर पा रहे थे। शत-शत वज्रपात-ध्वनि करते शिलाखण्ड जहाँ क्षण-क्षणमें टूटते हैं, उस प्रचण्ड कोलाहलमें सर्वथा अप्रभावित योगी इस उन्मत्तके अट्टहाससे विचलित हो गया था। उसे लगता था कि कोई उसके मनको बलपूर्वक बाहर खींच लाया है।

'आप कौन हैं?' गोरखनाथजीने पूछा। वे अपनी नेत्र-पलक भी बंद नहीं कर पाते थे। पलकें चेष्टा करने-पर भी नहीं गिर रही थीं।

'तेरा बाप! तेरा गुरु!' पागलने हाथकी तलवारसे गोरखनाथपर प्रहार किया; किंतु योगीके सिद्ध वज्र-देहसे टकराकर तलवार झनझनाकर पागलके हाथसे छूट गिरी। उनके शरीरपर चिह्नतक नहीं बना।

'दम्भी कहींका! तेरा गुरु···', पागलका अट्टहास असह्य हो गया। वह पता नहीं गुरुदेवको क्या कहने-वाला था। गुरुको कोई अपशब्द कहेगा, यह सम्भावना ही सहन नहीं हुई। गोरखनाथजीने झपटकर तलवार उठा ली और पूरी शक्तिसे पागलपर चोट की; किंतु यह क्या? अपने आघातके वेगसे गोरखनाथ स्वयं भूमि-पर—हिमशिलापर गिर पड़े। तलवार पागलके शरीरमें-से ऐसे निकल गयी थी, जैसे वायुमें चलायी गयी हो।

'आप कौन? देवता, यक्ष, गन्धर्व?' गोरखनाथ स्वयं बोलते-बोलते रुक गये। उनके सम्मुख जब वे योगस्थ हों—प्रेत-पिशाच, यक्ष-गन्धर्व, देवता-दैत्य कोई ऐसी धृष्टता करनेका साहस कर कैसे सकता है? ऐसा कौन है यह जो प्रयत्न करनेपर भी उनकी सर्वज्ञ दृष्टिकी पकड़में नहीं आता।

'मैं असत्य नहीं कहता। तेरे दम्भने तुझे अविश्वासी बना दिया है।' पागलका स्वरूप बदल गया और गोरखनाथ गुरुदेवको पहचानकर उनके चरणोंपर गिर पड़े।

'मेरे गुरुदेवको छोड़कर व्योमदेह दूसरा भूतलपर नहीं हुआ, यह मैंने सुना था।' गोरखनाथके नेत्रोंसे झरती अश्रुधारा गुरुके चरण धो रही थी। मेरा सिद्ध वज्रदेह-प्राप्तिका गर्व गल गया। मुझपर अनुग्रह करें देव! मेरा दम्भ?'

'माताको अपने अबोध शिशुकी चिन्ता रहती है।' गुरुने कहा। 'तू क्या समझता है कि मत्स्येन्द्र अपने कर्तव्यको भूल जायगा? शिष्यको स्वीकार किया तो उसको परम सिद्धितक पहुँचाना कर्तव्य बन गया। तेरी प्रत्येक क्षणकी साधना मेरी दृष्टिमें रही है। तूने छिन्न-मस्ताको सुप्रसन्न कर लिया; किंतु यदि चामुण्डा आती?'

गोरखनाथजी भी एक बार भयकम्पित हो गये। सचमुच आना तो चामुण्डाको ही चाहिए था और उन शिव-वक्षपर ताण्डवकारिणी उग्रभैरवीको भला वे कैसे शान्त करते? वे तो कोई मर्यादा मानती नहीं हैं।

'मैं चामुण्डा-पीठसे ही आ रहा हूँ।' मत्स्येन्द्रनाथ हँसे। 'मेरी अर्चाकी उपेक्षा करके चामुण्डा कहीं जा नहीं सकती थी।'

'गुरुदेव!' शिष्य अपने समर्थ गुरुके पावन पदोंपर मस्तक ही तो रख सकता है।

'किंतु अब यह तेरा दम्भ है।' मत्स्येन्द्रनाथने समझाया। 'मेरी इच्छा थी कि तू प्राणिहीन प्रदेशमें कुछ काल तपस्या करता। तप अपार शक्तिका द्वार

उन्मुक्त कर देता है। कलिके सम्पूर्ण जीवोंको तेरा तपः तेज कल्पान्ततक पवित्र रखता ; किंतु सृष्टिके नियामकका विधान अन्यथा कैसे हो सकता है।'

'मेरा दम्भ ?' गोरखनाथजीको अपने आचरणमें कहीं दम्भ नहीं दीखता था। दम्भ होता है दूसरोंको अन्यथा दर्शन करानेके लिए। इस जनहीन प्रदेशमें कोई किसलिए दम्भ करेगा ?

'तपका मूल है तितिक्षा और तितिक्षा कहते हैं दुःखोंको जान-बूझकर सहनेको।' खिन्नस्वरमें मत्स्येन्द्रनाथ कह रहे थे। 'शरीरको सिद्धरस-सेवनसे वज्र बनाकर तू जो इस शीत-प्रदेशमें आ बैठा है, यह कौन-सा तप, कौन-सी तितिक्षा है ? जब शरीर शीत-उष्ण—आघातादिसे प्रभावित होता ही नहीं, तब तेरा यहाँका निवास क्या तपका दम्भ नहीं है ?'

गोरखनाथजी चुप रह गये। उनके समीप भी कोई उत्तर नहीं था। मत्स्येन्द्रनाथजी कुछ रुककर बोले—'यही भूल मुझसे भी प्रारम्भमें ही हुई थी, जब मैंने स्थूल पाञ्चभौतिक देहको साधन-शक्तिसे व्योमदेहमें परिवर्तित किया। मैं प्रकृतिकी जिस विजयपर प्रफुल्ल था, अब जानता हूँ कि वही मेरी पराजय थी। मायाने मुझे देहकी ओर आकृष्ट करके पंगु कर दिया था।'

'परमात्मा अनन्त करुणालय है। देहको बज्र अथवा व्योम-सदृश बनाना आवश्यक होता तो उसने ऐसा करनेमें संकोच न किया होता।' कुछ रुककर वे योगेश्वर

बोले—'देहकी दुर्बलता—कष्टानुभव-क्षमता ही मानवको तप एवं तितिक्षाके वे साधन देती है, जिनमें सम्पूर्ण सृष्टिको परिवर्तित कर देनेकी शक्ति है।'

'अब मेरे समान तुम्हें भी लोकालयमें अज्ञात विचरण करना है। अज्ञजनद्वारा प्राप्त मानापमानमें सम रहकर मानसिक तप करो।' मत्स्येन्द्रनाथने आदेश देकर कहा। 'प्राणिहीन प्रदेश अब अनावश्यक है, किंतु तितिक्षाका सीमित क्षेत्र शक्तिस्रोत भी सीमित कर देता है। महेश्वर-की इच्छा पूर्ण हो।'

गुरु-शिष्य साथ ही वहाँसे नीचे चले।

धृति

'जिह्वोपस्थजयो धृतिः।'

प्रिय इन्द्र !

बहुत-बहुत स्नेह। तुम्हारा पत्र मिला, यह जानकर खेद हुआ कि तुम रुग्ण हो। यह बात ठीक नहीं है कि तुम रोगको प्रारब्ध-प्राप्त भोग मानकर संयम तथा चिकित्साका परित्याग कर दो। तुम धनोपार्जनमें तो ऐसी उपेक्षा नहीं दिखलाते। अपने कार्यालयमें पदोन्नतिके लिए तो तुम प्रयत्न करना नहीं छोड़ते। धन और पदोन्नति, मुकदमेमें जय-पराजय क्या प्रारब्धपर निर्भर नहीं हैं ?

देखो, जबतक शरीरमें आसक्ति है, जबतक संसारके दूसरे लाभोंको पानेके लिए तथा हानियोंको दूर करनेके लिए प्रयत्न मनुष्य करता है, तबतक रोगकी चिकित्सा भी उसका कर्तव्य है। कष्टके भयसे किसी प्रयत्नका त्याग प्रमाद है। जो देहाध्याससे रहित महापुरुष हैं, शरीरके रहने, न रहनेकी जिन्हें चिन्ता नहीं है, जो धन तथा मान-प्राप्तिके लिए भी कोई प्रयत्न न करके केवल भजन-में ही लगे रहते हैं, वे रोग-निवारणका भी प्रयत्न न करें तो अनुचित नहीं है।

अनुष्ठानोंसे, पूजनादिसे तथा प्रबल उद्योगसे प्रारब्धमें भी परिवर्तन होता है, यह तुम जानते हो। चिकित्सा भी एक प्रकारका प्रायश्चित्त ही है।

एक बात और—स्थूल शरीर वर्तमान कर्मोंसे एक बड़ी सीमातक प्रभावित होता है। तुम श्रम करो और थको नहीं, यह नहीं हो सकता। इसी प्रकार अधिकांश रोग व्यक्तिके अपने असंयम तथा असावधानीसे आते हैं। तुम अपनी असावधानीसे चोट लगा लो, चाकूसे अँगुली काट लो तो उसकी चिकित्सा तथा पीड़ा असावधानीका ही प्रायश्चित्त है।

बहुत कम रोग आगन्तुक तथा बाह्य निमित्तसे होते हैं। व्यक्तिका असंयम ही उसे रोगी बनाता है। तुम रोग-की पीड़ामें व्याकुल नहीं होते, यह अच्छी बात है। लेकिन इसीका नाम धैर्य नहीं है। धृतिमान् रोगी नहीं हुआ करता। तुम धृतिमान् बनो, इस शुभाकांक्षाके साथ—

आश्विन पूर्णिमा—२०२१ तुम्हारा—

भद्रसेन

आदरणीय पितृव्य !

सादर प्रणति। आपका पत्र मिला। आपने अपना पता नहीं दिया पत्रमें। लगता है, यात्रामें यह पत्र लिखा गया है। आपके कार्यालयके पतेपर पत्र दे रहा हूँ। शरीर अब रोगहीन है ; किंतु दुर्बलता है अभी। आपका आदेश स्वीकार करके मैंने ओषधि ली और अब भी ले रहा हूँ।

'धृतिमान् रोगी नहीं हुआ करता'—यह बात समझमें नहीं आयी। कृपा करके इसे समझायेंगे। रोग भी तप है,

यह आपका पिछला उपदेश बहुत काम आया इस बार। पञ्चाग्नि तापते साधुओंको मैंने देखा है। उत्तरकाशीमें एक महात्मा कई घंटे गङ्गाके हिमशीतल जलमें खड़े रहा करते थे। कष्टमें तपबुद्धि होनेसे वह प्रसन्नताका हेतु हो जाता है, यह अनुभव हो गया इस बार। ज्वर तथा उदरकी पीड़ा, मस्तक तो लगता था कि फट जायगा ; किंतु इसमें बड़ा आनन्द आया। यह तपस्या मेरे लिए अत्यन्त शुभ रही।

पिछले वर्ष अपने नगरमें विसूचिकाका जब प्रकोप था, कितना धैर्य, कितनी सेवापरायणता थी विष्णुदत्तजीमें। दुर्गन्धिसे, मल तथा वमनसे सने रोगियोंकी किस स्नेहसे वे शुश्रूषा करते थे। स्वजन जहाँ प्राणभयसे छोड़कर भाग गये, वे आगे आये। उनके-जैसा धृतिमान् ; किंतु आप जानते ही हैं कि वे इस समय क्षयके शिकार हैं और चिकित्सालयमें पड़े हैं।

मुझे अनेक व्यक्ति याद आ रहे हैं। अभी चीन तथा पाकिस्तानके साथ हुए संघर्षमें जिन सैनिकोंने अपूर्व शौर्यका परिचय दिया, आपने भी पढ़ा होगा वह समाचार कि उनमें-से एकको चिकित्साकी विशेष व्यवस्था सरकार कर रही है। इसीलिए धृतिमान्‌की विशेष व्याख्या अपेक्षित है।

इधर थोड़ी वर्षा हुई है। शीत कुछ बढ़ा है। अब तो सब दीपावलीकी स्वच्छतामें लगे हैं। छोटा भाई आपको प्रणाम कहता है।

अनिल-आवास — आपका अनुग्रहाकांक्षी—
कार्तिक कृष्ण ८ सं० २०२१ — इन्द्रदत्त

प्रिय इन्द्र !

बहुत-बहुत स्नेह। तुम्हारा पत्र कार्यालय होकर मुझे मिल गया। तुम्हारा शरीर स्वस्थ हो गया, यह जानकर प्रसन्नता हुई। आशा है, यह पत्र मिलनेतक दुर्बलता भी दूर हो चुकी होगी।

तुम्हारी जिज्ञासा उचित है। मनुष्य बड़ी-बड़ी विपत्ति सह लेता है। कहते हैं कि नैपोलियन बोनापार्ट युद्धभूमिमें गोले उगलती तोपके नीचे मजेसे निद्रा ले लेता था। किंतु धृतिका आश्रय क्या है ? चित्त अथवा बुद्धि। इसे बाहरी बड़े-से-बड़ा निमित्त विचलित न करे, ऐसा होना कठिन अवश्य है ; किंतु ऐसे व्यक्ति संसारमें बहुत मिलते हैं—सर्वत्र मिलते हैं।

सत्याग्रह-आन्दोलनके समय कितना कष्ट, कितना उत्पीडन सहा देशके लोगोंने, यह तुम 'कांग्रेसका इतिहास' देखकर जान सकते हो। बहुत कुछ इस विषयमें तुम जानते हो। पुलिसका प्रहार, रात-दिन भटकना, परिवारके लोगोंकी पीड़ा, अनेक घरोंका तो उस समय उच्छेद हो गया। वे देशभक्त धृतिमान् नहीं थे, ऐसा कौन कहेगा। किंतु जो उनके साथ कारागारमें रहे हैं—मैं कुछ काल रहा हूं और अनेकोंका सम्पर्क वहां मिला है, तनिक-तनिक-सी बातोंके लिए उन लोगोंका उत्तेजित होना, कौड़ी-बराबर गुड़ या चीनीके लिए अनेक अनुचित उपाय अपनाना देखकर बड़ा खेद होता था। उनकी धृति कहाँ चली गयी थी ?

बात यह है कि इन्द्रियाँ मन-बुद्धिको बहुत प्रभावित करती हैं, बाह्य किसी भी निमित्तकी अपेक्षा। जो अपने सम्पूर्ण परिवार तथा अपनी मृत्यु भी सम्मुख देखकर विचलित नहीं होते, वे भी स्वादके वशमें भटक जाते हैं और तुम जानते हो कि शरीरके अधिकांश रोग उदर तथा स्नायुके दोषसे होते हैं। जिह्वाकी लोलुपता उदरको विकृत करती है और ब्रह्मचर्य-सम्बन्धी असंयम स्नायु-दौर्बल्यका हेतु होता है।

जिह्वा और उपस्थका संयम जिसने साध लिया, वही सच्चा धृतिमान् है। उसकी बुद्धिको विचलित करनेका निमित्त नहीं रह गया। तुम इस प्रकारके धृतिशाली बनो।

मैं अब भी यात्रामें ही हूँ। पत्र कार्यालयके पतेपर ही देना। नन्हेंको स्नेह। परसों दीपावलीके दिन ही कार्यालय पहुँच पाऊँगा।

कार्तिक कृष्ण १३ तुम्हारा—
सं० २०२१ भद्रसेन

आदरणीय पितृव्य !

सादर प्रणति ! आपका पत्र दीपावलीके दूसरे दिन मिला। महालक्ष्मी-पूजनके इस पावन दिनके उपलक्षमें हम सबकी वन्दना स्वीकार करें।

मुझमें थोड़ी-सी जिह्वा-लोलुपता है। यह आप जानते ही हैं। चाट, खटाई, मिर्च मैंने छोड़ दी है। बाजार की वस्तुएँ अब नहीं खाता। चाय-काफी या कुल्फी-शर्बत भी

छोड़ देनेका निश्चय कर लिया है। किंतु मीठा खानेको बार-बार जी करता है। आप कहते ही हैं—'इन्द्र मिष्ठान्नप्रिय है।' शरीर स्वस्थ है। जिह्वा बहुत समयसे तंग करती आ रही है। आपके आदेश बार-बार भङ्ग हुए इसके कारण। अतएव अब उपवास करनेका विचार है। दो-तीन दिन (जबतक सहा जाय) केवल जल और नीबूका रस लूँगा। इससे पेट भी स्वच्छ हो जायगा। उसके पश्चात् उबाले शाक, कच्ची घिया ; किंतु फल नहीं ; क्योंकि फिर तो मीठा खानेकी इच्छाको ईंधन मिलेगा। आप आशीर्वाद दें।

अनिल-आवास — आपका अनुग्रहाकांक्षी
कार्तिक शुक्ल प्रतिपदा सं० २०२१ — इन्द्रदत्त

प्रिय इन्द्र !

बहुत-बहुत स्नेह ! तुम्हारा पत्र मिला। संयम तथा साधनमें तुम्हारी तत्परता देखकर प्रसन्नता होती है। उपवास तुमने प्रारम्भ कर दिया होगा ; क्योंकि तुम्हारे स्वभावमें ही निश्चयको, 'कल' पर टालना नहीं है। चलो अच्छा है, एक सप्ताह उपवास कर लो। इससे उदरके दोष दूर हो जायँगे और तुम्हें कुछ अनुभव भी मिलेगा। किंतु इससे अधिक उपवासका आग्रह मत करना। उससे कोई लाभ होनेवाला नहीं है।

इन्द्रियाण्यनुशुष्यन्ति निराहारस्य योगिनः।
वर्जयित्वा तु रसनं तन्निरन्नस्य वर्धते॥
तावाज्जितेन्द्रियो न स्याज्जितसर्वेन्द्रियः पुमान्।
न जितेद्रसनं यावज्जितं सर्वं जिते रसे॥

अनाहार करनेसे शरीरके साथ दूसरी सब इन्द्रियोंका बल क्षीण हो जाता है। उत्तम रूप देखने, उत्तम गन्ध सूंघने, कोमल वस्त्र पहनने, श्रेष्ठतम संगीत सुनने तथा अभीष्टतम स्त्रीको पानेकी कामना भी उपवासमें मर जाती है। क्षुधाक्षाम व्यक्तिको यह सब कुछ सुहाता नहीं; किंतु अनाहारसे जिह्वाकी स्वादलोलुपता बढ़ती है।

तबतक मनुष्य जितेन्द्रिय नहीं है, जबतक जिह्वाको जीत न ले, भले उसने दूसरी सब इन्द्रियोंको जीत लिया हो। जिसने रसनाको जीत लिया, उसने सबको जीत लिया।

श्रीमद्भागवतका तुम नित्य पाठ करते हो, अतः यह बात तुम्हें ध्यानमें आनी चाहिए थी। किंतु इस भ्रममें नहीं रहना चाहिए कि स्वादेन्द्रियको वशमें कर लेनेसे जननेन्द्रिय भी वशमें हो जायगी। तुमने पुराणोंमें महत्तम तपस्वियोंके तपःस्खलनकी कथाएँ पढ़ी हैं। मनोभव दुर्जय है और वह किसीको भी कब पराभूत कर देगा, कहा नहीं जा सकता। अतएव इस ओरसे सम्यक सावधानी ही व्यक्तिको सुरक्षित रख सकती है।

मुझे एक संतकी बात स्मरण आ रही है। उन्होंने कहा था—'मैंने बहुत दिनोंतक शीशमके पत्ते खाये। मुझे वे स्वादिष्ट लगने लगे। उन्हें त्यागकर नीमके पत्ते सबेरे चबाने लगा। थोड़े दिनोंमें वे भी स्वादिष्ट लगने लगे। उन्हें भी खानेको जी करता था। बड़ी दुष्टा है रसना। यह अफीम-जैसे कटु पदार्थमें भी स्वाद उत्पन्न कर देती है। स्वाद न आये, यह सम्भव नहीं है। स्वादानुभवको

महत्त्व मत दो। स्वादकी उपेक्षा करके स्वास्थ्य, शुचिता और अपने संयमको महत्त्व दो।'

यही बात उपस्थ-जयके सम्बन्धमें कहनी है मुझे। साधक या संत होनेका अर्थ पुंसत्वहीन होना नहीं है। काम मनमें ही न आवे, ऐसी जिन महापुरुषोंकी स्थिति हो, वे लोकवन्द्य हैं; किंतु सामान्यतः यह असम्भवप्राय है। जो वृत्ति मनमें आनेके पश्चात् ज्ञात होती है, उस अनागता अज्ञातवृत्तिको कोई कैसे रोक सकता है? उसे आनेका निमित्त न मिले, ऐसी अपनी ओरसे सम्यक् सावधानी और आनेपर उसे दबा देनेकी क्षमता—इतना तुम सम्पन्न कर लो तो तुम सच्चे साधक हो।

जिह्वाका स्वाद और उपस्थकी काम तृष्णा जिसको प्रतीत होकर, जिसके मनमें आकर भी उसे विचलित नहीं कर सकें, वह धृतिमान् है; क्योंकि वही सम्यक् धारणामें स्थित रहनेमें समर्थ है। यह अवस्था दृढ़ निश्चय तथा सतत प्रयत्नसे ही प्राप्त होती है। उपवासादि हठके साधन इसमें सहायक नहीं हो सकते।

आशा है, तुम इस तथ्यको ठीक रूपमें ग्रहण करोगे और सच्चे अर्थमें धृतिमान् बननेका मार्ग अपनाओगे।

अब आज लम्बे प्रयासमें जाना है। नन्हेंको प्यार।

कार्तिक शुक्ल अष्टमी
सं० २०२१

तुम्हारा शुभैषी—
भद्रसेन

शौर्य

स्वभावविजयः शौर्यम् ।'

'आप यदि मेरा अनुरोध स्वीकार कर लें, हम सबपर असीम अनुग्रह होगा।' ब्राह्मणके साथ न बलप्रयोग किया जा सकता और न उन्हें आज्ञा दी जा सकती, केवल प्रार्थना की जा सकती थी। जिनका सम्पूर्ण प्रजा सुरोंके समान सम्मान करती है, उन शास्त्रज्ञ, विरक्त भगवान् लोकनाथके आराधककी सुरक्षा सबसे अधिक आवश्यक थी; किंतु सुरक्षाके लिए भी उनकी अवमानना तो की नहीं जा सकती। इस बंगदेशके छोटे-से राज्यकी शक्ति ही कितनी है कि उस लोकभयंकर कालापहाड़का प्रतिरोध किया जा सके। साश्रुनेत्र राजाने प्रार्थना की—'वह पिशाच देव-द्विज-द्रोही है और निसर्ग-क्रूर है।'

'राजन्! नश्वर शरीर इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है कि उसके मोहसे ब्राह्मण अपने आराध्यका सान्निध्य-त्याग करे।' उन श्वेत रोम-केश, वलीपलितकाय, ताम्र गौर वृद्धका विशाल भाल सौम्य तेजसे भूषित था। उनके सुदीर्घ दृगोंमें भयका कोई भाव नहीं था। 'भगवान् लोकनाथका श्रीविग्रह अचल-प्रतिष्ठ स्वयम्भू विग्रह है।

उसे स्थानच्युत करनेकी बात सोची नहीं जा सकती । उन प्रलयंकरने यदि अपने इस विग्रहके तेजोपसंहारका संकल्प किया है तो इस देहकी पादाञ्जलि भी उन्हें प्राप्त होनी चाहिए । तुम प्रजा तथा अपने परिवारकी रक्षा करो ।'

'प्रजाके रक्षणीयवर्गको यथाशक्य सुरक्षित स्थानोंपर भेजा जा रहा है ।' राजाके स्वरमें कोई उत्साह नहीं था । 'वैसे वह मृत्युका दूत किधरसे आयेगा, कहाँ उसके क्रूर कर क्या-क्या करेंगे, कोई अनुमान नहीं है । केवल देवस्थान, विप्र एवं क्षत्रियवर्गका वह संहारक है । राजपरिवारके साथ सैनिकोंके स्वजन भी स्थानान्तरित किये गये हैं । अब तो आप आशीर्वाद दें कि अपने क्षात्रधर्मकी रक्षा करता हुआ यह शरीर सार्थक हो ।'

'तुम शूर हो ।' उन तपोधनने एक बार आकाशकी ओर इस प्रकार देखा जैसे नियतिकी अव्यक्त लिपि पढ़ रहे हों । 'मरण भी उसका मङ्गलपर्व ही है जो जीवन यज्ञकी पूर्णाहुति जनताके आतङ्कको समाप्त करनेके लिए कर सके ।'

यह अल्पप्राण आत्माहुति मात्र दे सकता है और उसके लिए आये इस अवसरका सम्पूर्ण उपयोग करेगा ।' राजाके शब्दोंमें दृढ़ निश्चयके साथ निराशाकी वेदना थी—'लेकिन आतङ्कका अन्त अनावधि लगता है । कहीं मैं इस भारत-भूमिके आतङ्कका सचमुच अन्त कर पाता ।'

राजन् ! जो द्वेष तथा स्वार्थरहित है, जिसने अपनी स्वाभाविक दुर्बलताओंको विजित कर लिया है, उसका

वलिदान व्यर्थ कर देनेकी शक्ति विश्व-नियन्तामें भी नहीं है।' ब्राह्मणका मुख तेजोदीप्त हो गया। नाभिकमलसे उठते परावाणीके पूर्ववर्ती स्वर पश्यन्तीसे अलंकृत आशीर्वाद दे गये—'तुम्हारा आत्मदान आतङ्कके अन्तका अवश्य निमित्त बनेगा।'

'देव।' नरपतिने विह्वल होकर उनके चरण पकड़ लिये। मेरा जन्म सार्थक हो गया है इन श्रीचरणोंकी सेवा करके और मेरे मरणको अशून्य कर दिया इस आशीर्वादने; किंतु आप.........।'

'मेरी चिन्ता मत करो। मैं उन लोकनाथके अङ्कमें अभय बैठा हूँ।' वे महापुरुष इस समय ऐसे स्वरमें बोल रहे थे, जिसकी सत्यतामें संदेह किया नहीं जा सकता था। 'आतङ्कके अन्तमें ब्राह्मण अपना सहयोग नहीं देगा तो कर्मकी पूर्णता कैसे होगी?'

× × ×

'कालापहाड़ आ रहा है!' कितना भयंकर है यह संवाद। प्रलयका संदेश भी इतना दारुण नहीं होगा। वह नृशंसताकी नग्न मूर्ति—जनपदोंको फूँकते, रौंदते, मानवके छिन्न-भिन्न शवोंसे मेदिनीको बीभत्स बनाते, पिशाचोंकी सेनाके समान आँधीके वेगसे आनेवाला निष्ठुर हत्यारा जिधर जाता है, पूरी दिशा उजाड़ हो जाती है और वह आ रहा है।

'कालापहाड़ आ रहा है!' प्रतिहिंसाने उस मानवको दानव बना दिया है। वह हिंदूधर्ममें अपनाया नहीं गया।

एक बार धोखेसे—विवशतासे धर्मभ्रष्ट हो जानेपर और अब वह अपनी क्रूरतापर उतर आया है। जिसके अन्तरमें इतनी दारुण हिंसा छिपी थी, वह धार्मिक ही कब था कि उसे कोई धर्मज्ञ स्वीकार करता। वह ध्वंसका दूत, सुना इधर ही आ रहा है।

'कालापहाड़ आ रहा है!' शिशु यह सुनते ही भयसे माताके अङ्कमें मुख छिपा लेते हैं। बालक क्रीड़ा त्यागकर घरोंकी ओर भागते हैं। नारियोंके सिरसे जल-कलश गिर जाते हैं। दूसरोंकी चर्चा व्यर्थ है, अच्छे-अच्छे शूरतक सशङ्क हो उठते हैं और खड्गकी मूठपर कर रखकर भी अश्वकी पीठपर पहुँचनेकी त्वरा उन्हें हो जाती है। आज तो उसके सचमुच आनेका समाचार आया है।

'कालापहाड़ आ रहा है!' जनपद उजाड़ बन गये। भवन उलूक-शृगालोंके आवास बननेको त्याग दिये गये। केवल सुन्दरवनका दलदल तथा अरण्य लोगोंको जीवन-रक्षाका आश्रय जान पड़ रहा था। वनके व्याघ्र, गज तथा महाकाय सर्प उस दैत्यकी अपेक्षा कम भयानक थे।

'कालापहाड़ आ रहा है!' लोगोंके समूह भागते आ रहे थे। पैदल और छकड़ोंका अनन्त समूह बराबर बढ़ता जा रहा था। घर-द्वार, भूमि-उपवन तथा अपने परम प्रिय, 'पोखर' त्यागकर किस विपत्तिमें वंगीय परिवार इस प्रकार अनिश्चित प्रवास करता है, बड़ा

दारुण है यह अनुमान भी। लोग आते गये और उनके साथ मार्गके लोग भी सम्मिलित होते गये।

'कालापहाड़ आ रहा है!' प्रत्येक मुखपर एक ही चर्चा। प्रत्येक मार्ग जैसे सुन्दरवन ही जा रहा है। उनपर मानव-प्रवाह, जैसे शत-शत धाराओंमें भगवती भागीरथी समुद्रको अङ्कमाल देने यहाँ धावित हैं। सब मुख श्रीहीन, भय-बिह्वल। बालक-वृद्ध, स्त्री-पुरुष और उनके पशु भी साथ हैं।

'कालापहाड़ आ रहा है!' उसका आक्रोश केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं देवस्थानोंपर हैं; किंतु उसके क्रूर म्लेच्छ सैनिक कोई मर्यादा मानते हैं? वे जब स्वधर्मियों-तकको लूटनेमें संकोच नहीं करते, दूसरा उनकी दयाका विश्वास करके कैसे रुका रह सकता है?

'कालापहाड़ आ रहा है!' इस आतङ्कके भगदड़के मध्य अकस्मात् एक दिन ग्राम-ग्राम, पथ-पथमें एक भेरी-घोषके साथ घोषणा सुनायी पड़ी—'कालापहाड़ कोई यमराज नहीं है। हो वह यम; किंतु मृत्यु दो बार नहीं आती। युवको! तरुणो! देश तुम्हें पुकारता है! धर्म तुम्हारा आह्वान करता है! तुम इस पुकारको अनसुनी कर दोगे?'

'देश पुकारता है! धर्म पुकारता है!' चलते छकड़े रुक गये। भागते पद स्थिर हो गये। नारियाँतक उत्कर्ण सुनने लगीं। उद्घोषक कह रहा था—आराध्य-पीठपर अविचल खड़ी भगवन्मूर्तियाँ पुकारती हैं तुम्हें! देव-

ब्राह्मणोंकी रक्षाका महापर्व आज पुकार रहा है! तुम इसे अनसुना कर सकोगे ?'

'नहीं ! हम सुनेंगे यह पुकार। क्या करना है हमें ? युवकों,तरुणों ही नहीं, वृद्धोंतकने उद्घोषकोंको स्थान-स्थान पर घेर लिया। अनेक स्थानोंपर नारियां आगे आ गयी थीं—'बतलाओ ! क्या करना है हमें ?'

'हम कालापहाड़को मार भले न सकें, अपने मस्तकोंसे उसका मार्गावरोध अवश्य कर सकते हैं।' उद्घोषक बोल रहा था 'राजा क्षमासेनने खड्ग उठाया है। उनके पीछे मृत्युके इस महातीर्थमें स्नान करनेका जिनमें साहस हो, आ सकते हैं वे। उनका स्वागत ! कापुरुषोंकी हमें कोई आवश्यकता नहीं है।'

'हम आयेंगे ! जिसके समीप शस्त्र नहीं थे, वे भी लाठी उठाये आगे आये। केवल एक प्रश्न था प्रत्येकका—'क्षमासेन युद्ध करेंगे ?'

'क्षमासेन युद्ध करेंगे!' उद्घोषकने दृढ़ स्वरमें घोषणा की। 'ब्राह्मण तथा माताएँ क्षमा करें। उन्हें वृद्ध, बालक तथा अन्य असमर्थोंका आश्रय बनना चाहिए। उनका शौर्य वनमें भी सार्थक होगा, यदि वे असमर्थोंकी वन्यप्राणियोंसे रक्षामें सावधान रहें।'

'क्षमासेन युद्ध करेंगे ?' इस चर्चाने जैसे कालापहाड़के आतङ्कको पहले ही पराजित कर दिया। अब कालापहाड़ आ रहा है।' के स्थानपर जन-जनमें चर्चाका विषय बन गया—'क्षमासेन युद्ध करेंगे।'

'क्षमासेन युद्ध करेंगे !' प्रत्येक श्रोता एक बार अविश्वाससे कहनेवालेका मुख देखता रह जाता था बचपनसे जो अपनी दया, उदारता, क्षमाके लिए प्रसिद्ध हैं, अपना अपमान करनेवाले नायकको भी जिन्होंने दण्ड नहीं दिया राजकुलका अहित करनेवाले सेवकको भी जिन्होंने वृत्ति दी जिन्हें क्रोध करते देखा ही किसीने नहीं, वे नरपति शस्त्र उठायेंगे ?

'क्षमासेन युद्ध करेंगे !' किसीके अपराधका दण्ड देना जिन्हें आता नहीं। प्रजामें कोई उद्धत हो तो उसके सुधारके लिए जो स्वयं उपवासका अनुष्ठान कर लेते हैं, जो प्रजा तथा पुत्रमें भेद नहीं कर पाते और कोई शत्रु भी है, यह जिन्हें समझाया नहीं जा पाता, वे संग्राम करने आयेंगे, यह सहज विश्वास करनेयोग्य बात नहीं थी। राजाके सम्बन्धमें अनेक किंवदन्तियाँ उस छोटे राज्यमें तथा उससे बाहर भी फैली थीं। यह लोकस्वभाव है कि छोटी घटना भी फैलती है तो उसका रूप बहुत बड़ा बन जाता है। क्षमासेनके सम्बन्धमें भी यही हुआ था। लोगोंमें तो बात यहाँतक फैली थी कि उनके नरेश अस्त्र छू जाय तो स्नान करते हैं। अतः उनके युद्धकी घोषणा जहाँ अविश्वसनीय प्रतीत हुई, अत्यधिक प्रेरणाप्रद भी बनी वह।

× × ×

'कापुरुष ! तू और कर क्या सकता था ?' कोई इस प्रकार भी कालापहाड़को कह सकता है, उसने कल्पना भी नहीं की थी। जिस प्रचण्ड झंझाबातके सम्मुख महारण्यके

तरु समूल धराशायी हो जाते हैं, उसको एक उद्यान क्या अवरोध उत्पन्न कर सकता है। क्षमासेन अपने सैनिकों, सहायकोंके साथ खेत रहे। रणभूमिसे रक्ताक्त शरीर, अंगारनेत्र, शोणितस्रावी तलवार लिये कालापहाड़ सीधे लोकनाथमन्दिर आया था। वह अपने हाथों इस प्रसिद्ध श्रीमूर्तिको नष्ट करनेका संकल्प इस ओर अभियानसे पूर्व ही कर चुका था। नील वस्त्रधारी, म्लेच्छ सेनाके कुछ मुख्य नायक उसके पीछे प्रेतोंके समान आये थे। उन उद्धत लोगोंके अश्व मन्दिरके भीतर गर्भगृहके सम्मुखतक आये। किंतु जैसे ही अश्वपरसे वह कूदा, वृद्ध पुरोहित द्वारपर सम्मुख दीखे।

'कापुरुष! कालापहाड़ कापुरुष है? मूर्ख ब्राह्मण! क्या कहता है तू?' चीखा वह कजल-कृष्ण-वर्ण, अत्यन्त दीर्घ एवं प्रचण्डकाय दैत्य!

'इन असहायोंकी हत्यासे अपवित्र शस्त्र और इस स्वर्ण-लोभी, प्राणिपीड़न प्रिय प्रेतोंको लेकर तू अपनेको शूर समझता है? कायर कहींका!' वृद्ध ब्राह्मणकी वाणीमें केवल शब्दोंकी ही तीक्ष्णता नहीं थी, उसमें वह उपेक्षा तथा तिरस्कार था जो कुत्तेको भी कोई नहीं देता। 'शूर था वह जो तुझ नारकीयका प्रतिरोध करनेमें प्राण देकर सुरपूजित हो गया। तू अभिमान-उद्धत भीरु!'

'ले!' हाथका शस्त्र कालापहाड़ने पूरी शक्तिसे एक ओर फेंक दिया। झनझनाकर टूट गयी वह भारी तलवार। पीछे घूमकर उसने अपने अनुचरोंको आदेश दिया—'दूसरे सब बाहर चले जायँ।'

'नपुंसक ! मैं नहीं जानता था कि तू मूर्ख भी है।' ब्राह्मणने झिड़क दिया। 'अब तू वृद्ध ब्राह्मणसे बाहुयुद्ध करनेको उद्यत है। तू समझता है कि शौर्य सैनिकोंमें और शस्त्रमें नहीं है तो तेरे इस प्रतिहिंसापरायण पापी शरीरमें है। हड्डी, मांस और विष्ठामें शौर्य है—यह तुझ-जैसा नारकीय ही समझ सकता है।'

'ओह !' कालापहाड़ने अपने अधर दाँतसे इतने जोरसे दबाये कि उनसे रक्त टपकने लगा। क्रोधके अधिकतम आवेशसे नेत्रोंसे टपाटप आँसू टपकने लगे, स्वेद-स्नात शरीर थरथर काँपा कुछ क्षण और स्तम्भित—जड हो गया। वह पलकतक गिरा नहीं पाता। मूर्तिके समान स्थिर खड़ा है वह। उसके नेत्र अंगारके समान जल रहे हैं सर्पके समान फ़ूत्कारयुक्त श्वास छोड़ रहा है वह।

'शौर्य चित्तका गुण है। चित्तकी स्वाभाविक विक्रियाको जीतकर वह प्राप्त होता है। स्वभाव—मनके विषयाभिमुख दौड़नेको, क्रोध-रोषको और राग-द्वेषको जीत लेनेका नाम है शौर्य। तुझमें साहस है शौर्यकी प्राप्तिका ?' बड़ी वेधड़क दृष्टिसे देखते हुए दक्षिण हस्त पूरा फैलाकर उन्होंने द्वारकी ओर निर्देश किया—'जा ! विश्वनाथका यह द्वार तुझ-जैसे कापुरुषके लिए नहीं है। निकल जा !'

पता नहीं क्या हुआ, कालापहाड़ घूमा और सचमुच निकल गया। वह अपने क्रोधसे ही उन्मत्त हो गया था। उसके पश्चात् रोगशय्यासे वह उठ ही नहीं सका।

सत्य समदर्शन

"मैं सत्यका पुजारी हूँ।"—महात्मा गान्धी।

'बापूने सत्यको परमात्मा माना है और अहिंसाको उसका साधन!' एक खद्दरधारी सज्जन अपने समीपके दूसरे व्यक्तिसे कह रहे थे।

सबमें—प्राय: सभी मनुष्योंमें कुछ-न-कुछ दुर्बलता होती है। मेरी अनेक दुर्बलताओंमें यह एक है कि यदि थोड़ी भी आर्थिक सुविधा हो तो गर्मियोंमें पहाड़की ओर भाग खड़ा होऊँगा और अपनी छोटी-सी जेब खाली होनेतक वहीं डटा रहूँगा। इस बार कसौली रहनेकी ठानी थी; क्योंकि प्रसिद्ध पर्वतीय यात्रा-स्थानोंमें भीड़-भाड़ अधिक होती है।

कालकासे ही मोटर बस पकड़ी हमने। दोनों ओर हरे-भरे पर्वत और वन—मार्ग बड़ा सुन्दर और उसमें भी वे खद्दरधारी महोदय एक गम्भीर चर्चा उठा चुके थे। उनकी बात सुनने और मार्गके दृश्य देखते चलनेमें कोई बाधा नहीं थी; क्योंकि मैं चर्चाका तटस्थ श्रोता था।

'बापूने सत्य किसे समझा, वे ही जानें।' दूसरे सज्जन खीझे लगते थे—'किंतु उनके अनुयायियोंने आज जो कुछ

कर रक्खा है——......——।' जाने दीजिये, दोषोंकी चर्चासे कोई लाभ नहीं है। किसीकी निन्दा—किसीकी दुर्बलता-का वर्णन करने तथा सुननेमें हम जिस उल्लास-उत्साहका अनुभव करते हैं, वह स्वयं भारी दुर्बलता है। उस समय हम भूल ही जाते हैं कि हम जिन दुर्गुणोंकी चर्चा करते हैं, उनके वीज हममें भी हैं और वैसा ही अवसर आनेपर वे ही सुविधाएँ प्राप्त होनेपर हम उस व्यक्तिसे जिसकी अभी निन्दा कर रहे हैं, अच्छे सिद्ध होंगे—यह साहसके साथ नहीं कह सकते।

'सत्य क्या है ?' किसी भाईने पूछा।

'तुसी जानदा नहीं ?' एक हट्टे-कट्टे पंजाबी भाईने कमीजकी बाहें समेटी और घूसा बाँधकर दिखाया—'सच यह है। बाजूकी ताकत सच है।'

सहसा सब यात्रियोंको एक कड़ा झटका लगा। मार्ग एक मोड़पर था। सामनेसे पूरी गतिसे एक ट्रक आ गया। बसका ड्राइवर भी सम्भवतः दो क्षणको इस चर्चाकी ओर आकृष्ट हो गया था। ट्रकने 'हार्न' दिया होगा मोड़ लेते समय; किंतु इसने सुना नहीं और स्वयं मोड़पर हार्न देना भूल गया। आधे क्षण और कुछ इंचसे दुर्घटना बच गयी। ट्रक और बस लगभग टकराते-टकराते रुके। 'ब्रेक' चीख-से पड़े। एक ओर पर्वत तथा दूसरी ओर गहराई—दोनों ड्राइवरोंने क्रुद्ध नेत्रोंसे एक दूसरेको देखा। ट्रक ड्राइवरने कुछ कहा पंजाबीमें, जो मैं स्पष्ट सुन नहीं पाया; किंतु दोनों गाड़ियोंने तत्काल एक

दूसरेको बचाकर मार्ग पकड़ा। ऐसे अवसरोंके वे अभ्यस्त लगते थे।

'अभी समझ लेनेवाले थे तुम कि सत्य क्या है। एक बाबाजी भी बैठे थे बसमें। वे इतनी देर बाद बोले— 'बस खड्डमें जाती तो सत्यका पता लग जाता।'

'मौत सच है, यही कहते हैं न आप ?' उन खद्दरधारी-ने गम्भीरतासे कहा—'किंतु मौतसे जिंदगी कहीं ज्यादा सच है।'

'बाबा, कम-से-कम तू तो कह कि गुरु सच है और अकाल पुरुषका नाम सच है। एक बूढ़े सफेद दाढ़ीवाले सिख सज्जनने कहा।

'आप ठीक कहते हो !' साधु बोले—'परमात्मा सच है। परमात्माका नाम सच है और गुरु सच है।'

× × ×

'सत्य परमात्मा है और परमात्मा सत्य है !' यह बात भले ठीक हो ; किंतु परमात्माको समझ लें तब सत्य समझमें आये, तब तो समझमें आ चुका वह।

उस दिन 'मंकी पाइंट' पर जा बैठा था। यह एक ऊँचा शिखर है यहाँका। पता नहीं इसे यह नाम क्यों अंग्रेजोंने दिया था। इसके चारों ओर प्रातः-सायं भ्रमणके लिए मार्ग है और शिखरपर चढ़नेके लिए पगदंडी है। यात्री प्रायः इसपर पहुँचते हैं ; क्योंकि यहाँसे नीचे मैदान, नदी, झील ही नहीं, कालका और पंजाबकी राजधानी चंडीगढ़तक दीखते हैं।

सायंकाल—सूर्यके अस्त होनेमें कठिनाईसे आध घंटेकी देर होगी। मैं जब इस शिखरपर चढ़ने लगा था, यात्रियोंके लौटनेका समय हो चुका था। मुझे उतरते हुए लोग मिले थे। शिखरपर मैं पहुँचा तो वहाँ कोई नहीं था। एकान्त—शान्त। मैं इधर-उधर देखकर बैठ गया। ऊपर स्वच्छ आकाश है; किंतु शिखरसे नीचे पश्चिम दिशामें बादल बिछे हुए हैं।

पर्वतपर छा जानेवाले मिलकी चिमनीसे उठते सफेद धुएँ-जैसे मेघ मैंने बहुत देखे हैं। उनमें मीलों चला हूँ। उनसे घिरकर बैठा हूँ। वर्षाके पश्चात् इन पर्वतोंपर जहाँ-तहाँ छोटे-बड़े उज्ज्वल मेघखण्ड चीड़की डालों और हरी झाड़ियोंमें जब रुक जाते हैं, लगता है खेलते-खेलते थककर मेघ-शिशु जहाँ-तहाँ विश्राम कर रहे हों। किंतु आजकी यह छटा सर्वथा भिन्न, सर्वथा अपूर्व है। मीलों-तक मानो खूब धुनी रुईके कोमल धुए तीस-चालीस फुट ऊँचे बिछा दिये गये हैं। पृथ्वी और गगनका भेद करना कठिन है और उस सम्मुख क्षितिजसे ऊपर तो मैं बैठा हूँ इस शिखरपर।

रुईके धुए फैल रहे हैं, बढ़ रहे हैं। दृश्य डूबता जा रहा है उनमें और इनके पीछे अस्ताचलगामी सूर्यकी किरणोंने इनपर अब अबीर उँड़ेलना प्रारम्भ कर दिया है। यह कैसा रंग—पूरा एक भाग अतसीपुष्प-नीलाभ और वह भी सूर्यके पीछेसे पड़नेवाले प्रकाशके कारण ज्योतिर्मय, अत्यन्त कोमल! यह रंग, यह सौकुमार्य, यह ज्योति—कई क्षण नेत्र और वृत्ति डूबे रह गये वहीं।

अब उतरना चाहिए। अन्धकार होनेसे पूर्व शिखरसे नीचे पहूँचकर स्वच्छ पथ पकड़ लेना चाहिए। शिथिल पद उतरना पड़ा और पथपर पहुँचते ही वे उस दिनवाले साधु मिल गये, जो आते समय बसमें मिले थे।

'आप घूमकर आ रहे हैं।' उन्होंने पूछा और स्वतः कहने लगे—'ये मेघ जो उमड़े आ रहे हैं दृश्योंको एकाकार करते, सत्यका दर्शन करा देते हैं ये।'

'सत्यका दर्शन ?' मैं कुछ चौंक गया। अपने-आप वह प्रश्न फिर सम्मुख आ गया था, जो उस दिन यात्रामें उठा था और वह सब घटना स्मृतिमें स्पष्ट हो गयी।

'नाम रूपने ही तो उस एक चिन्मय परमात्मामें ये भेद बना रक्खे हैं!' वे संत कह रहे थे—'यह भेद और इस भेदको लेकर चलनेवाला सब व्यवहार मिथ्या है। इस भेदको पृथक् कर देनेपर जो एक रह जाता है, सत्य तो वही है।'

सत्यं च समदर्शनम्।

साधुने केवल श्रीमद्भागवतका एक वाक्य कह दिया। उन्हें अब दूसरी ओर जाना था। मार्गकी बत्तियाँ जल चुकी थीं। मैं उनको अभिवादन करके पृथक् हुआ।

अर्थ (धन) का प्रयोजन

नार्थस्य धर्मैकान्तस्य कामो लाभाय हि स्मृतः ।

(भागवत १.२.९)

'मुझे परम धर्मात्मा सुप्रसिद्ध दानवीर सेठ झगडूसाह-के दर्शन करने हैं ।' गौरवर्ण आतपमें तपकर ताम्र बन चुका था और क्षीण काया तथा मलिन वस्त्र बतला रहे थे कि उसपर यदि किसीने कृपा की है तो वे ज्येष्ठा देवी (दरिद्रता) ही हैं ।

'आप दूरसे आये जान पड़ते हैं और ब्राह्मण लगते हैं । मैं आपके चरणोंमें प्रणाम करता हूँ ।' हाथ जोड़कर, मस्तक झुकाकर उस काठियावाड़ी पुरुषने बड़ी श्रद्धासे मस्तक झुकाया । 'झगडूसाहको आपके दर्शन करने चाहिए । वह कब ऐसा धर्मात्मा और दानी हुआ कि उसके दर्शन करने आप-जैसे ब्राह्मण पधारें । आप इस घर-को पवित्र करें । कोई सेवा मैं कर सकूँ तो मेरे अहोभाग्य !'

'उन लोकविख्यात उदारचेतासे आपकी ईर्ष्या उचित नहीं है ।' आगन्तुक कैसे जानता कि उसके सामने जो

घुटनोंसे ऊपर धोती बाँधे बिना उत्तरीयके किंचित् स्थूलकाय अधेड़ उम्रका बड़ी-बड़ी मूँछोंवाला व्यक्ति है, उसीसे मिलने वह आया है और यही वह व्यक्ति है, जिसके समुद्री व्यापारकी धाक सुदूर पश्चिमके गौराङ्ग देशोंतक मानी जाती है। आगन्तुकने तो उसे सामान्य व्यक्ति ही समझा था। 'मैं सेठ झगड़ूसाहसे मिलकर ही विश्राम करूँगा। आप उनका गृह बतला देनेकी कृपा करेंगे!'

'आपके इस सेवकका ही नाम झगड़ूसाह है।' आगन्तुक दूरसे आया है, उसके चरणोंपर धूलिकी परत जम रही है। वह बहुत थका लगता है। उसे अधिक उलझनमें डालना अनुचित मानकर प्रार्थना की गयी—आप भीतर पधारनेकी कृपा करें!'

'आप?' आगन्तुक दो क्षण तो स्तब्ध देखता ही रह गया सामने खड़े व्यक्तिको। उसने झगड़ूसाहके सम्बन्धमें क्या-क्या सोचा था—कितनी भव्य, कितनी तड़क-भड़क, कितने सेवक-सैनिकोंसे घिरे व्यक्तित्वकी उसने कल्पना की थी और यह उसके सम्मुख खड़ा ग्रामीण-जैसा दीखता व्यक्ति······।

'आप पधारें!' झगड़ू साहने फिर आग्रह किया। उसे भवनके भीतर जाकर अपनी कल्पनाकी सार्थकता जान पड़ी। राजसदन भी कदाचित् ही उतना सुसज्ज और कलापूर्ण होगा। सेवकोंकी तत्परता—उसने सुना था कि उत्तम सेवक स्वामीके हृदयके भाव समझते हैं

और यहाँ वह देख रहा था कि उसके स्वागत-सत्कारमें आतिथेयको कहीं एक शब्द बोलनेकी अपेक्षा नहीं हो रही थी।

'यह सेठजीका निजी सदन है?' तनिक अवकाश मिलनेपर एक सेवकसे आगन्तुकने पूछ लिया।

'यह उनका अतिथि-गृह है।' सेवकने बड़े सम्मानसे सूचित किया।

'सेठजी! आप यदि अन्यथा अर्थ न लें, मुझे एक बात पूछनी थी!' आगन्तुक अपनेको रोक नहीं सका था।

'आप आज्ञा करें!' सेठने सरल भावसे कहा।

'आप देशके श्रेष्ठतम श्रीमंतोंमें हैं। स्वदेश एवं विदेशके भी श्रीमंत आपके अतिथि होते होंगे। अनेक नरपतियोंका भी आपने आतिथ्य किया होगा। आपकी अतिथिशाला आपके गौरवके सर्वथा अनुरूप है; किंतु—दो क्षण आगन्तुक रुका। 'आप जानते हैं कि मैं ब्राह्मण हूँ और ब्राह्मण अतिथिका सत्कार धर्मनिष्ठ आर्य गृहस्थ प्राय: अपने निज सदनमें ही करते हैं। आपने इस परम्परा-से पृथक् जो व्यवहार किया है, उसका कुछ कारण तो होगा? मुझमें ऐसी कोई त्रुटि—कोई प्रमाद आपने…।'

'नहीं देव!' सेठने आतुरतापूर्वक ब्राह्मणके चरण पकड़ लिये। 'आप दूरसे पधारे हैं और थके हुए हैं। आपको समुचित सेवा मेरा कर्तव्य है। आप विश्राम कर लें, तब यह जन आपके श्रीचरणोंसे अपने आवासको भी

पवित्र करेगा और तब आप स्वयं समझ लेंगे कि देवका सत्कार वहाँ करनेका आग्रह मैंने क्यों नहीं किया।'

× × ×

'देशके अनेक नरेश कठिन स्थितिमें जिनसे ऋण लेते हैं, जिनकी सम्पत्तिका कहा जाता है कि कोई अनुमान नहीं है, उनका यह आवास और यह जीवन!' आगन्तुकको अपने पूरे जीवनमें ऐसा अनुभव कभी नहीं हुआ था।

उसे जहाँ ले जाया गया था—कठिनाईसे ही कह सकते हैं कि वह झोपड़ी नहीं थी। क्योंकि वह पक्की दीवारोंसे बना घर था; किंतु कुल तीन कक्ष उसमें भोजनशालाके अतिरिक्त और उसमें भी एक पूजन-कक्ष था। उसी कक्षमें कुछ वैभवके दर्शन उसे हो सके थे।

प्रायः आभूषणरहित एक सामान्य नारीने उसके सत्कारमें भाग लिया था। झगडूसाह उन्हें बार-बार 'सत्नी' न कहते तो वह जान भी नहीं पाता कि वही सेठानी हैं। कोई सेवक-सेविका नहीं। कोई विलास-सामग्री नहीं। गुजरात-काठियावाड़में ग्रामीण कृषकके घरमें भी इससे अधिक साज-सज्जा एवं सामग्री मिलती है।

'स्वच्छता, सुव्यवस्था, सौम्यता—अतिथि ब्राह्मण है, अतः उसने केवल एक अनुभव किया कि वह किसी गृहस्थके गृहमें न पहुँचकर देवालयमें पहुँच गया है। देवालयमें वह उपासना कर सकता है, दस-पाँच घंटे

ध्यानस्थ रह सकता है ; किंतु उसे आवास बनाकर तो रहने योग्य वह अपनेको सचमुच नहीं पाता।

'आप इतने अल्पमें कैसे निर्वाह कर लेते हैं ?' युवक अतिथि एक शब्द नहीं बोल सका था उस समय, जब वह सेठके साथ उनके निज-सदनमें गया था। उसने तो रात्रिके प्रथम प्रहरमें अतिथिशालामें अपने पदोंके पास बैठे सेठसे पूछा था।

'इतना वैभव—इतना विस्तार और यह जीवन !' अतिथि सायं-संध्यासे पूर्व सेठके व्यावसायिक कार्यालयमें भी हो आया था। उस गद्दीमें उसने पंक्तियाँ देखी थीं बहीखाता सँभालनेवाले मुनीमोंकी और वहाँ देखा था कि एक व्यावसायिकके प्रवन्ध, प्रशासन और नरेशके प्रशासनमें क्या अन्तर होता है। सेठका आत्मीय-जैसा सबके साथ व्यवहार उसने देखा तो यह भी देखा कि उनका कितना सम्मान करते हैं उनके सेवक एवं सहचर। उनके प्रत्येक शब्द एवं संकेतको कितनी गम्भीरतासे ग्रहण किया जाता है। वही व्यक्ति यह उसके पैरोंके समीप आ बैठा है और उसका निजी जीवन—निजी जीवनकी वह सादगी समझनेका प्रयत्न कर रहा था वह।

'अल्प—अल्पमें कहाँ निर्वाह कर पाता हूँ, प्रभु ?' —सेठके व्यवहार और वाणीमें आडम्बर उसे सर्वथा नहीं दीखा। वे कह रहे थे—'भगवान्‌ने एक सेवा दे दी है। उसका पारिश्रमिक जितना लेना चाहिए, उससे

यदि अधिक न लेता होऊँ तो उनकी कृपा है। शरीरकी सुख-सुविधाके लिए कितना अल्प प्राप्त है इस देशके अनेक अभावग्रस्त लोगोंको। झोपड़ियोंके निवासी क्या इतनी भी सुविधा पाते हैं? झगडूसाह तो अपनी देहके लिए बहुत व्यय करनेवाला बन गया है।'

'किंतु सेठजी ! व्यक्तिको अपने पूर्वकृत कर्मोंसे सम्पत्ति प्राप्त होती है।' अतिथिने अपनी बात कही। 'जिनके भाग्यमें धन नहीं है, जिनके पूर्वकृत शुभ कर्म नहीं हैं, वे कंगाली भोगते हैं। यह उनका कर्मफल— उनका प्रायश्चित्त ; किंतु जिसे पूर्वपुण्यके फलरूपमें अपार सम्पत्ति मिली है, वह उसका उपभोग न करके अभावकी पीड़ा क्यों उठाये ?'

'देव ! मैंने तो दूसरी ही बात सत्पुरुषोंके मुखसे सुनी है।' सेठने सुनाया।

पानी बाढ़ै नावमें, घरमें बाढ़ै दाम।
दोनों हाथ उलीचिये, यही सयानो काम॥

'श्रीपति तो श्रीनारायण हैं। समस्त सम्पत्ति उन्हींकी है। उनकी कृपा होती है तो वे किसीको अपना मुनीम बना लेते हैं। उन दीनबन्धुके बन्धुओंकी जो सेवा कर सके तो वह मुनीम बनेगा।' सेठने [illegible] दिया। 'मैं वैश्य हूँ, मैंने तो यही समझा है।'

'आप कहते ठीक हैं।' आगन्तुक ब्राह्मण था और ब्राह्मण उस समयतक शास्त्रसे विमुख एवं बहिर्मुख नहीं हुए थे। युवक आसनसे उठकर नीचे बैठ गया। 'धनका

एकमात्र उपयोग है—यज्ञ और दान। अर्थकी परानिष्ठा धर्म है। धन किसी भी पुण्यसे आया हो—पुरस्कार है और प्राप्त पुरस्कारको वितरित कर देनेमें ही मनुष्यकी उदारता, महानता है। उसका उपभोग करने जो बैठा, वह तो कृपण है। आपने आज एक ब्राह्मणको बचा लिया लोभके पाशसे !'

'देव !' सेठ दो क्षण मौन रहे। 'आपने अपने आगमनसे मुझे धन्य किया; किंतु इस जनको सेवाका सौभाग्य अभी प्राप्त नहीं हुआ। परिचय पाना भी चाहता था।'

'तक्षशिलाका स्नातक बनकर तीर्थयात्राको निकल पड़ा था।' युवकने बिना किसी भूमिकाके परिचय दिया। 'पिता-माता बाल्यकालमें परलोकवासी हो गये; किंतु देशमें ब्राह्मण-पुत्रके पालन-शिक्षणकी व्यवस्था करनेवाले उदारचेता कम नहीं हैं। श्रीद्वारकाधीशके दर्शन करनेके बहुत पूर्वसे—कहना तो यह चाहिए कि तीर्थयात्राके प्रारम्भसे ही आपकी कीर्ति कर्णकुहरोंको पवित्र कर रही थी। इधर आया तो आपके दर्शनकी उत्कण्ठा हुई। मेरा अध्ययन आज पूर्ण हुआ, ऐसा अनुभव करता हूँ।'

'आप प्रमुख पथ त्यागकर केवल एक व्यापारीसे मिलनेमात्रके लिए तो यहाँ नहीं आये होंगे।' सेठने इस बार आग्रह किया कि युवक संकोच त्यागकर उद्देश्य सूचित करे।

'आपका अनुमान अयथार्थ नहीं है।' युवक किंचित् हँसकर बोला। 'तीर्थयात्रा पूर्ण करके गृहस्थजीवन

स्वीकार करनेकी बात मनमें थी। यह कल्पना ही नहीं थी कि बिना अर्थके भी गार्हस्थ्य चला करता है; किंतु अब आपका गृह देखकर मुझे अपनी अल्पज्ञतापर लज्जा आती है। आप मेरे गुरु इस विषयके।'

'आप मुझे सेवासे वञ्चित करना चाहते हैं!' सेठने भी हँसकर कहा।

'आप धर्मात्मा हैं।' युवक गम्भीर बना रहा। 'एक ब्राह्मणकुमारको आप परिग्रहके कुपथपर जानेकी प्रेरणा नहीं देंगे। ब्राह्मणके गार्हस्थ्यमें अर्थकी आवश्यकता नहीं है, यह आप अनुभवी होनेके कारण मुझसे अधिक जानते हैं।'

'पञ्चाल धन्य है ऐसे विद्वानोंसे।' सेठने सिर झुकाया। 'किंतु आप मुझ-जैसे एक व्यापारीको यह कैसे समझा देना चाहते हैं कि घर आये अतिथिको रिक्तहस्त चले जाने देनेका अपकर्म मैं स्वीकार कर लूं?'

'आप ज्ञान-दानको दान ही नहीं मानते?' युवकने पूछा।

'सर्वश्रेष्ठ दान है वह; जब वह अपनी प्रज्ञासे स्वतः प्राप्त कर लिया जाता है, दान नहीं होता। उसका नाम उपार्जन होता है और वह अपना स्वत्व है।' सेठने कहा—'मैंने तो अपने सम्पूर्ण व्यापारमें यही सीखा है। व्यापारी होनेके कारण मेरी दृष्टि अर्थपर ही अधिक रहे तो आपको इसे मेरा स्वधर्म समझकर सत्कृत करना चाहिए।'

रात्रि-विश्रामका समय देखकर सेठने स्वयं चर्चा समाप्त कर दी। अतिथिका अभिवादन करके उस समय विदा होना ठीक लगा उन्हें।

× × ×

'मैंने जब तक्षशिलामें आयुर्वेदकी शिक्षा प्रारम्भ की—एक बाल्यचापल्य चित्तमें था।' दूसरे दिन युवकने विदा होनेसे पूर्व सेठको सुनाया। 'एक समृद्ध चिकित्सा-लयका स्वप्न था वह। यात्रामें आपकी कीर्ति सुनकर सोचा था कि प्रचुर धन आपसे सहज ही इसके लिए प्राप्त हो सकता है।'

'बड़ा शुभ संकल्प है। आप यहाँ निवास करें तो इस प्रान्तका सौभाग्य।' सेठने अवसर खो देना सीखा होता तो इतने समृद्ध वे होते ही नहीं। वे बोलते गये—'मेरा कोई आग्रह नहीं है। आप जहाँ उपयुक्त समझें—जैसी व्यवस्थाकी आज्ञा करें।'

'तीर्थाटनका कार्यक्रम मैंने अपने चिकित्सागुरुकी सम्मतिसे बनाया।' युवकने सेठकी बात जैसे सुनी ही न हो। 'देशके विभिन्न भागोंमें होनेवाली वनस्पतियों तथा अन्य ओषधियोंसे परिचयके साथ लोगोंकी प्रवृत्ति एवं प्रकृतिका अनुभव भी हो गया। मेरे दो सहयात्री संगृहीत ओषधियाँ लेकर पञ्चाल चले गये हैं।'

'पञ्चालमें ही आप अपना चिकित्सालय स्थापित करें।' सेठने बिना संकोच स्वीकार किया। उन्होंने दावात

खींच ली अपने पास, अपने पञ्चालस्थित प्रतिनिधिको आदेश-पत्र लिखनेके लिए।

'कलतक जो बात समझमें नहीं आयी थी, अकस्मात् कल रात्रिमें ध्यानमें आ गयी। वैसे मैं अनेक बार श्रीमद्भागवतके पारायणमें उसे पढ़ चुका हूँ—

यात्रार्थमपि नेहेत धर्मार्थं वाधनो धनम् ।

'ब्राह्मणके लिए गृह-निर्वाहकी चिन्ता व्यर्थ है। जीवन-निर्वाह तो उसे करना है, जिसने जीवनका निर्माण किया है और सेठजी! सृष्टिकर्ताने स्वयं जिसे मुनीम नहीं बनाया है, वह बलात् यह परतन्त्रता अपने सिर ले, अज्ञता ही तो है?'

झगड़ू साहने दोनों हाथ जोड़ लिये। उनके-जैसा संयमी, दानी, धर्मात्मा तथ्यको ग्रहण करनेमें न असमर्थ रह सकता था और न उससे संकोच कर सकता था।

'धर्मका एक तथ्य मैं विस्मृत हो गया था।' युवक कहता गया। 'अपने समीप जो शक्ति, जो साधन, जो क्षमता है, उसके सदुपयोगका ही नाम धर्म है। धर्मके लिए दूसरोंपर निर्भर करके, दूसरोंसे परिग्रह करके जो प्रयत्न चलता है—वह विश्वनियन्ताकी प्रेरणा नहीं है। उसकी प्रेरणा होती, उसको वह सेवा लेनी होती तो उसका साधन वह सहज दे सकता था। यह धर्मके नामपर होनेवाला प्रयत्न तो आत्मप्रचारका

प्रेरणा—अहंकी पूजा है।'*

'आपकी योग्यताका लाभ तो प्राप्त होना चाहिए रोगार्त जनोंको।' सेठने सविनय कहा।

'मैं उसे अस्वीकार कहाँ करता हूँ।' युवक बोला। 'मेरा शरीर सशक्त है और वनौषधियोंके द्वारा भी रोग-निवारण सम्भव है। जितनी शक्ति मुझे प्राप्त है, उसका उपयोग करनेका कर्तव्य तो मुझे स्रष्टाने सौंप ही दिया है।'

'मुझ-जैसोंको उन्होंने यह व्यवस्था करनेके लिए नियुक्त किया है कि आप-जैसे महाप्राणोंकी शक्तिका समुचित उपयोग हो जाय।' अब सेठने स्थिर स्वरमें कहा—'आप कहाँ अपना निवास बनायेंगे, केवल इतना सूचित कर दें। आपकी लोकसेवाको जो सहयोग समाजकी ओरसे अनायास प्राप्त होगा, उसे अस्वीकार करना आपके लिए भी उचित नहीं है।'

युवक इस आग्रहको अस्वीकार नहीं कर सकता था। पञ्चाल दुर्भाग्यसे आक्रान्ताओंका बार-बार आखेट हुआ। तक्षशिला भी अब पाकिस्तानमें है। अतः शताब्दियों पूर्वकी इस घटनाका कोई चिह्न—किसी प्राचीन चिकित्सालयका कोई खँडहर पञ्चालमें भूमिके नीचे कहीं दबा पड़ा भी हो तो उसका पता लगा लेना आज सरल नहीं है।

* पाठशाला, गोशाला, विद्यालय, चिकित्सालय आदिकी स्थापना तथा अभावग्रस्त, अकाल-पीड़ित प्राणियोंको सेवा धर्म नहीं है, ऐसा तात्पर्य मेरा सर्वथा नहीं है। किंतु इन कामोंके लिये भी साधककी प्रवृत्ति धन एकत्र करनेमें हो तो वह बाधक प्रवृत्ति ही है। जन-सेवकोंका यह काम है। उसमें स्वयं जो सहयोग दिया जा सकता हो, सर्वथा श्रेयस्कर है।—लेखक ●

धर्मका प्रयोजन

'धर्मस्य ह्यापवर्ग्यस्य नार्थोऽर्थायोपकल्पते।'
(श्रीमद्भा० १.२.९)

'भगवन्! चरणाद्रि-चञ्चरीक यह जन अपने दिगन्तयशोधवल परम भट्टारककी ओरसे श्रीचरणोंमें प्रणत है! राजकविने साष्टाङ्ग प्रणिपात करके घुटनोंके बल बैठकर बद्धाञ्जलि प्रार्थना की। 'साकार शास्त्राधिदेव द्वितीय द्वैपायन प्रभुपाद अमित पराक्रम चरणाद्रिनाथके पुनीत संकल्पका सक्रिय अनुमोदन करनेकी अनुकम्पा करें। आपका आशीर्वाद भी पर्याप्त होगा उनके यज्ञकी सम्पूर्णताके लिए; किंतु हमारे महाराज अपने यज्ञीय आचार्यपीठपर इन चरणोंकी अर्चा करनेको अत्यन्त उत्कण्ठित हैं।'

वाराणसी भगवान् विश्वनाथकी प्रिय पुरी तो है ही, वाग्देवीके वरदपुत्रोंकी सनातन क्रीड़ाभूमि भी है और विद्या तो वीतरागकी विभूति है। अब भी देववाणीके इस नगरके विद्वान् विद्याको विक्रयकी कम और वितरणकी वस्तु अधिक मानते हैं। अब भी किसी विद्याभिलाषी विद्यार्थीको निराश करना विद्वान्की

गरिमाके विपरीत माना जाता है और यह जबकी बात कही जा रही है, उस समयको व्यतीत हुए तो अनेक शताब्दियाँ हो चुकीं। काशी विद्याका केन्द्र—विद्याकामी पूरे भारतके जनोंका परम तीर्थ और वहाँ भी जो सम्पूर्ण वेद-वेदाङ्ग-निष्णात सर्वविद्वद्वृन्दवन्दित आचार्य चन्द्रमौलि—देशके सभी शासक उनके चरणोंमें मस्तक झुकाकर अपनेको कृतार्थ ही मानते हैं।

चरणाद्रि वाराणसीका पार्श्ववर्ती राज्य है। उसके नरेश प्रायः भगवान् विश्वनाथकी वन्दना करने पधारते हैं। आचार्यके श्रीचरणोंमें प्रणिपात किये बिना अपनी यात्रा तो कभी उन्होंने पूर्ण मानी नहीं; किंतु यज्ञीय आमन्त्रण देनेके लिए स्वयं आनेका साहस उन्हें नहीं हुआ। वीतराग, तपोधन आचार्यका क्या भरोसा—वे यदि अप्रसन्न हो जायँ, उनके असंतोषका प्रतिकार करनेकी बात तो दूर—उसे सहन कर लेनेकी शक्ति भी कदाचित् हो सुरपतिमें हो।

राजकवि ब्राह्मण हैं और आचार्यके स्नेह-भाजन हैं। उन्हें सम्मुख पाकर आचार्यका चित्त क्षुब्ध नहीं होगा। प्रार्थनाकी स्वीकृतिकी यदि कहीं किञ्चित् सम्भावना है तो इसी प्रकार है। यह सोचकर ही राजकविको चरणाद्रि-नरेशने भेजा था। राजकविने अपनी प्रार्थना पुनः सुनायी—'यह अयोग्य ब्रह्मबन्धु श्रीचरणोंके स्नेहसे धृष्ट हो गया है! इसका यह अनुरोध—सुरोंकी श्रुति-सम्मत सेवाका परम सात्त्विक

सम्भार श्रुतिके पारद्रष्टाकी अध्यक्षताकी अपेक्षा करता है !'

'तुम्हारे यजमानका संकल्प क्या है ? वे यज्ञ करके किस उद्देश्यकी पूर्ति चाहते हैं ?' आचार्यने सीधे पूछ लिया।

'वे महाप्राण किसी लौकिक लोभमें नहीं हैं।' राजकविने कहा। 'वे धर्म-काम हैं। ऋतु सुरेशकी संतुष्टिके संकल्पसे ही होगा और वह पारलौकिक अभ्युदयकी सिद्धि करेगा।'

'अपाम सोममममृताऽभूम'

आचार्यने एक श्रुति बोल दी और कहा—'यह पुष्पिता वाणी जिसे प्रलुब्ध करती है, उस बालोद्योगमें मेरे-जैसे वृद्धकी अभिरुचि सम्भव नहीं है।'

'भगवन्।' राजकवि केवल सानुरोध सम्बोधन करके मौन रह गये।

'धर्म कामपूर्तिका साधन नहीं है।' आचार्यने शान्त स्वरमें कहा। 'इस लोकमें धर्मानुष्ठानका फल-भोग कदर्य पुरुष चाहते हैं और स्वर्गोपलब्धि चाहते हैं किञ्चत् उदारचेता; किंतु दोनों कामपुरुषार्थी हैं—बालक हैं। धर्म स्थूल या सूक्ष्म देहकी तृप्ति-तुष्टिका साधन तो होता है; किंतु यह है उसका दुरुपयोग ही और ऐसे किसी दुरुपयोगमें सहयोगकी सम्भावना तुम मुझसे नहीं कर सकते।'

'भगवन् !' राजकवि कुछ कहते—इसके लिए समय नहीं मिला। सम्पूर्ण शस्त्र, कवच एवं शिरस्त्राण दूर उतारकर कोशलके महासेनाध्यक्ष उसी समय आचार्यके सम्मुख दण्डकी भाँति भूमिपर गिरे—

'शरणागतोऽस्मि !'

'वत्स ! इस पुरीमें प्रत्येक जन श्रीविश्वनाथकी शरणमें है। दण्डपाणि कालभैरव यहाँ पुरीपाल हैं। तुम माता अन्नपूर्णाके आश्रयमें अभय हो।' आचार्यने स्वयं उठकर महासेनाध्यक्षको उठाया।

'आप यहाँ और इस प्रकार एकाकी ?' राजकविने आगत सेनापतिकी ओर देखा।

'नहीं वत्स !' आचार्यने रोक दिया। 'विश्वनाथके शरणागतके सम्बन्धमें कुछ पूछनेका स्वत्व किसीको नहीं है। उन निखिल ब्रह्माण्डनायकके सम्मुख कभी कोई अपराधी नहीं होता। जगज्जननी अन्नपूर्णा केवल ममतामयी, वात्सल्यमयी हैं।'

'प्रभु !' महासेनाध्यक्षने स्वयं कुछ कहना चाहा।

'नहीं—कोई आवश्यकता नहीं कुछ कहनेकी ! तुम गङ्गास्नान करो और विश्वनाथ-अन्नपूर्णाके दर्शन कर आओ। तुम्हारी व्यवस्था वे जगन्माता कर देंगी।' गुरुदेवका संकेत पाकर एक विद्यार्थी आगन्तुकके साथ जानेको उठ खड़ा हुआ।

'इस सेवाका सौभाग्य......' राजकविने प्रार्थना की।

'अवश्य; किंतु विश्वनाथके आश्रितसे चरणाद्रिका कोई सेवक कुछ नहीं पूछेगा। आचार्यने आदेश किया। 'तुम उसका आतिथ्य कर सकते हो।'

× × ×

'राजन्! अब तुम्हारा सेनाध्यक्ष भगवान् गङ्गाधर की शरणमें है और काशीमें शरण लेने आये कि सुरक्षाका दायित्व कुत्तेपर बैठनेवाले कराल देवतापर है, यह तुम जानते होगे!' आचार्यने अपने पदोंमें प्रणत कोशल-नरेशसे कहा।

'भगवन्! मर्यादा-पुरुषोत्तमके मङ्गल-पीठका यह क्षुद्र-सेवक इतना अज्ञ नहीं है कि यहाँ कोई धृष्टता करनेका साहस करेगा।' नरेशने हाथ जोड़कर मस्तक झुकाया। 'उसका अपराध क्या है, यह प्रश्न अब यहाँ कहाँ उठता है? वैसे मैं उसके पीछे ही आया था; किंतु जब पुरीके पार्श्वतक आ गया तो भगवान् विश्वनाथ एवं श्रीचरणोंके दर्शनका लोभ त्याग नहीं सका।'

'तुम विवेकवान् हो!' आचार्य सुप्रसन्न हुए।

'एक जिज्ञासा अनेक वर्षोंसे है, किंतु साहस नहीं होता।' नरेशने सुअवसर देखकर ही कहा था।

'तुम्हें ब्राह्मणसे भी भय लगता है?' आचार्यके अधरोंपर स्मित आया।

'रघुवंशकी परम्परा ही यह है।' नरेशने विनम्र स्वरमें कहा। 'यम और मृत्युसे भी निर्भय दो-दो हाथ कर लेनेका साहस ही रघुवंशीमें इसलिए है कि वह विप्रवंशसे और अच्युताश्रित जनोंसे भय करता है!'

'मर्यादा-पुरुषोत्तमके तुम उचित स्वत्वाधिकारी हो!' आचार्यने सुप्रसन्न कहा। तुम्हारी जिज्ञासा क्या है?'

'परदुःखभञ्जक, महासम्राट् विक्रमका सुयश किस धर्मका सुफल है?' नरेशकी स्पर्धा कहाँ है, यह छिपानेका कोई प्रयास उन्होंने नहीं किया।

'वत्स! सुयश धर्मका फल अवश्य है; किंतु धर्मका वही परम प्रयोजन नहीं है।' आचार्यका स्वर ऐसा स्नेहस्निग्ध हो गया, जैसे अपने शिशुको वे समझा रहे हों। 'सुयश शरीरके नामका और नश्वर शरीरका नाम—क्या सचमुच यह तुम्हारा नाम है? श्रीराघवेन्द्रके वंशधर हो तुम! नामका सुयश क्या अज्ञान नहीं है? इसका प्रलोभन तुम त्याग सकते हो!'

'प्रभु!' नरेशने सिर झुका लिया। वे गहन चिन्तनमें डूब जाते; किंतु इसका भी समय उन्हें मिलता नहीं था।

'भगवन्! यह बेताल प्रणिपात करता है!' दूरसे घन-गम्भीर स्वर सुनायी पड़ा। 'बेताल भट्ट!' आचार्य उठ खड़े हुए और उन्होंने आगे जाकर बलपूर्वक उज्जयिनीके महामन्त्रीको उठाया—'नीतिशास्त्र-

के प्रकाण्ड पण्डितको इस प्रकार प्रणिपात करनेकी आवश्यकता नहीं है।'

'यह तो स्वत्व है इस जनका।' बेतालने कहा। 'पुत्रके स्वत्वको पिता भी उससे छीन तो नहीं सकता।'

'तुमसे व्यवहार सम्बन्धी विवाद करके भला कोई विजयी हो सकता है?' आचार्यने हाथ पकड़कर बेताल भट्टको समीप लाकर एक आसन दिया। 'शकारि सकुशल हैं?'

'श्रीचरणोंके दर्शनकी उत्कण्ठा लिये वे अनुमतिकी प्रतीक्षा कर रहे हैं।' इस बातने कोशलनरेशको जितना चौंकाया—आचार्य उतना नहीं चौंके।

'शकारिके शीलकी समता नहीं है!' आचार्यने अपने छात्रोंसे कहा। उन्हें ले आओ।'

'भगवान् महाकालका क्षुद्र प्रतिहार विक्रम प्रणिपात कर रहा है!' सम्राट् भूमिपर गिरे और आचार्य उठाने उन्हें वेगसे आगे बढ़े।

'शकारि! तुम बहुत समयसे आये!' कुशल-प्रश्न समाप्त हो जानेपर आचार्यने कहा—'इस वृद्ध ब्राह्मण-को तुमने एक अनपेक्षित उत्तर देनेसे बचा लिया। कोशलनरेश जानना चाहते हैं कि तुम्हारा सुयश किस धर्माचरणका परिणाम है?'

'मैं सम्राट्का अनुचर हूँ।' कोशलका राज्य ही नहीं, राजधानी अयोध्याकी प्रतिष्ठा भी जिनके पुण्य

करोंसे हुई उन्हीं शकारिके सम्मुख अपनी स्पर्धा नरेशको अत्यन्त लज्जाजनक लगी।

'विक्रम धर्म कहाँ कर पाता है प्रभु ? सम्राट्‌ने सरल श्रद्धाभरित स्वरमें कहा। 'इस जनका सुयश भी क्या ? सुयश भगवान् महाकालका और यह सेवक कुछ सेवा कर पाता है—यह आपके आशीर्वादका सुपरिणाम।'

अपने सम्राट्‌के उत्तरसे बेताल भट्टके नेत्र उत्फुल्ल हो उठे। किंतु आचार्यने कहा—'शकारि! तुम सम्राट् हो। अपनी प्रजाको धर्मका पथ प्रदर्शित करना भी तुम्हारा कर्तव्य है। तुम धर्मका प्रयोजन क्या मानते हो?'

'सेवक तो केवल प्रतिहार है महाकालका।' विक्रम-का रथ-चक्र गम्भीर-स्वरपूर्ण विनम्रतासहित गूँजा—धर्मका पथ तो वीतराग ब्राह्मणोंके पुण्य-प्रवचनोंसे प्रशस्त एवं प्रकाशित होता है। वैसे इस जनने धर्मका एक ही प्रयोजन जाना है—अन्तःकरण अर्थ एवं कामके लोभसे कलुषित न हो और श्रीउमा-महेश्वरके चरणोंमें अनुरागके योग्य वह बने।'

'धर्मसे जो सुयश मिलता है?' कोशल-नरेशने पूछ लिया।

'अज्ञजन सत्कार्यके परम प्रेरकको न देखकर देहकी प्रशंसा करते हैं और उस प्रशंसापर लुब्ध भी अज्ञ ही होते हैं।' सम्राट्‌ने नरेशकी ओर सस्नेह देखकर कहा।

'भगवन् ।' लगता था कि आज कुछ ऐसा मुहूर्त ही आ गया था कि किसीकी चर्चा पूर्ण होनेका अवकाश नहीं मिलता था। यह चर्चा चल ही रही थी कि चरणाद्रिके राजकविने कुछ आतुरतापूर्वक प्रवेश किया। लेकिन वे सम्बोधनके साथ ही ठिठक गये। उन्हें इसकी कोई सम्भावना नहीं थी कि आचार्यके समीप स्वयं सम्राट् विक्रमादित्य उपस्थित होंगे और वह भी अपने मन्त्री वेताल भट्टके साथ। केवल कोशलनरेशके आनेका समाचार उन्हें मार्गमें मिला था।

'वत्स ! इतनी व्याकुलता किसलिए ?' आचार्यने पूछा।

'श्रीचरणोंने हमें एकके आतिथ्यका सौभाग्य दिया था।' दो क्षणमें राजकवि स्वस्थ हो गये और उपालम्भके स्वरमें बोले। 'अब उन्होंने हमें इस सौभाग्यसे वञ्चित कर दिया है। वे न तो निवास स्वीकार करनेको प्रस्तुत हैं और न आहार ही। हमारी कोई सेवा लेना उन्होंने स्वीकार नहीं किया। वे तो उपोपित रहना चाहते हैं वाराणसीमें भी अनिश्चित कालतक !'

'इसका अर्थ है कि वह अब माता अन्नपूर्णाको व्यथित करेगा।' आचार्यके स्वरमें खेद आया। 'माता-के अङ्कमें कहीं शिशु उपोषित रहा है ? अन्नपूर्णा काशीमें किसीको क्षुधातुर देख सकती हैं ?'

'कौन हैं वे महाभाग ?' शकारिने सहज जिज्ञासा की।

'कोशलका सेनाध्यक्ष था वह।' आचार्यने बतलाया। 'अब तो विश्वनाथका आश्रित है। हम उसे देखेंगे।'

आचार्यके साथ सभी उठ खड़े हुए।

× × ×

'मैं क्षत्रिय हूँ। दान स्वीकार करना मेरा धर्म नहीं है। तीर्थमें मैं किसीका कोई दान—कोई सेवा ग्रहण करूँ, यह आज्ञा आप मुझे नहीं देंगे।' सेनाध्यक्षने आचार्यके साथ सम्राट्को, राज़कविको, बेताल भट्टको प्रणाम किया; किंतु कोशलनरेशकी ऐसी उपेक्षा कर दी, जैसे वहाँ हों ही नहीं। उसका आग्रह अनुचित भी कौन कहता ? वह कह रहा था—'मेरे अपराधसे ही मेरा सर्वस्व छीना गया। आज मैं कंगाल हूँ और अब किसीकी सेवा नहीं करना चाहता। जो औढरदानी है—उसीसे मुझे अर्थ लेना है।'

'उससे तुम्हें अर्थ लेना है ?' आचार्यने रोका। 'इतने अज्ञ हो तुम कि उस मोक्षदातासे मिट्टीके डले लेनेको मचल रहे हो ?'

'तब ? मेरा यह उपवासरूप धर्म क्या मुझे श्रेष्ठ सम्पत्ति नहीं दे सकता ?' सेनाध्यक्षने कहा। 'न दे ! उपवास करके प्राणत्याग तो मैं कर ही सकता हूँ।'

'तुम्हारा कुछ छीना नहीं गया है।' कोशलनरेशने कहा। 'तुम्हें अयोध्या रहनेसे भी वञ्चित नहीं किया गया है। केवल तुम्हें राजसेवासे मुक्त किया गया है।'

'मेरा कुछ छीना नहीं गया ?' वह चौंका। उसका आवेश शिथिल होने लगा। दुःख—सर्वस्व चले जानेका दुःख गया तो उसके आवेशका वेग भी चला गया।

'तुम यहाँ यथेच्छ दान-पुण्य कर सकते हो। तुम्हारी सम्पत्ति अब भी तुम्हारी है।' नरेशने आश्वासन दिया।

'तब मैं उससे धर्म करूँगा।' सेनाध्यक्ष शान्त हुआ। उसने आचार्यके चरण पकड़ लिये—'भगवन् ! आप............'

'तुम किसलिए धर्म करोगे ?' आचार्यने पूछा। 'तुम देखते ही हो कि धर्मके संकल्पमात्रने तुम्हें तुम्हारी समस्त सम्पत्ति दिला दी है; किंतु दान, व्रत, यज्ञादि समस्त धर्म-कार्य संकल्पपूर्वक ही होते हैं।'

'अक्षय सम्पत्तिकी प्राप्तिके लिए मैं धर्म करूँगा।' सेनाध्यक्षका निश्चय दो क्षणमें स्थिर हो गया।

'समस्त पृथ्वीका स्वर्ण और रत्नराशि तुम्हें मिल जाय—कोई उपयोग है उसका तुम्हारे लिए ?' आचार्यके नेत्र उसके मुखपर स्थिर हो गये।

'नहीं है !' सेनाध्यक्षको निर्णय करनेमें कुछ क्षण लगे। 'किंतु तब धर्मका प्रयोजन क्या है ?'

'धर्मका प्रयोजन है मोक्ष ! मोक्ष ही प्राणीका परम पुरुषार्थ है ।' आचार्यका स्वर निर्णायक एवं स्थिर था ।

'धर्मसे मोक्ष ?' बेताल भट्ट चौंके ।

'धर्मका परम प्रयोजन है अन्तःकरणकी शुद्धि ।' आचार्यने उनकी ओर देखा । 'अन्तःकरण शुद्ध होनेपर ही ज्ञान अथवा भगवत्प्रेमका उदय होता है ।'

राजकविने अपने कोमल मधुर स्वरमें श्रीमद्भागवतका एक श्लोक उच्चारित किया—

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेनकथासु यः ।
नोत्पादयेद्यदि रतिं श्रम एव हि केवलम् ॥
(१.२.८)